कर्म

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी०ए० ऑनर्स, एम०ए०

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

संस्करण : 2019
प्रतियाँ : 1000

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. 94683 40497, 81684 90221**
मुद्रक :

दो शब्द

काम करो ऐसा कि पहचान बन जाये ।
हर क़दम चलो ऐसा कि निशान बन जाये । ।
यहाँ ज़िन्दगी तो सभी काट ही लेते हैं ।
ज़िन्दगी जीयो ऐसे कि मिसाल बन जाये । ।

—श्रीमती ललित अरोड़ा

भद्र आत्माओ !

कर्म ही जीवन है और कर्म ही प्रभु पूजा है । अतः संसार का कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिये भी कर्म के बिना नहीं रह सकता । तभी तो स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था—

Every duty is holy and devotion to duty is highest form of the worship of God. Vol. V- P. 240

प्रत्येक कर्त्तव्य पवित्र है और उसे कर्त्तव्य के प्रति समर्पण ही प्रभुपूजन की पराकाष्ठा है ।

अतः प्रस्तुत पुस्तक में मैंने कर्म की बड़ी विशद् व्याख्या की है । इसमें कर्म शब्द की परिभाषा, कर्म करने के पाँच आधार, कर्मों का वर्गीकरण, कर्म, विकर्म, अकर्म, सतोगुणी कर्म, रजोगुणी कर्म, तमोगुणी कर्म, निष्काम कर्म, संन्यास, कर्म करते हुए भगवत्प्राप्ति की साधना कर्मयोग के पाँच भेद, कर्मयोगरहस्य, कर्म व कर्मफल आदि विषयों का उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत पुस्तक में यह बताया गया है कि मानव के हाथ प्रयास तो है परन्तु परिणाम नहीं । अतः प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कहीं भी कार्यरत है यदि वह ईमानदारी एवं निष्ठा से काम करता है तो वह राष्ट्रनिर्माता है । प्रस्तुत पुस्तक मैंने सच्ची लगन व कड़ी मेहनत से अनेक पुस्तकों के अध्ययन व अनुशीलन के पश्चात् लिखी है । इन विषयों का एक खूबसूरत गुलदस्ता मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ । लीजिए, अब आप भी इस रुहानी गुलदस्त रूपी

''कर्म'' के पुष्पों को देखिए और झूम-झूम कर आनन्द विभोर हो जाइये ।

प्रस्तुतः पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री लालचंद चौहान, रोशनलाल अग्रवाल, नरेश बंसल, जयकिशन जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है । इसके अतिरिक्त मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यन्त धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों में से संदर्भ उद्धृत किये गये हैं । वस्तुतः बोलना सरल है परन्तु लिखना अत्यधिक कठिन । जैसेकि संस्कृत में एक उक्ति है–

शतं वद एकं मा लिख

अर्थात् सौ बार कहो परन्तु एक बार भी मत लिखो । क्योंकि लेखन में यदि कोई त्रुटि रह गई तो वह तुरन्त पकड़ी जायेगी और लेखक की पोल खुल जायेगी । मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है । परन्तु संसार के प्रत्येक व्यक्ति की भाँति मैं भी अल्पज्ञ व अपूर्ण हूँ । अतः यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं पाठकगण से क्षमा चाहूँगा ।

धर्म पाल कपूर

दिनांक : 7.3.2019

(धर्मपाल कपूर)
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

निवेदन

श्री धर्मपाल कपूर जी ने कर्म फल के सम्बन्ध में लोगों की भ्रान्तियों को दूर करने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। कर्म एक गूढ़ एवं बहुत कठिन विषय है, महर्षि व्यास गीता के अध्याय चार में कहते हैं कि **गहना कर्मणो गति** अर्थात् कर्म की गति को समझना बड़ा ही कठिन है।

जीवात्मा एवं शरीर के संयोग का नाम मनुष्य है। इनमें से जीवात्मा चेतन और शरीर जड़ है। इन दोनों के संयोग के बिना कोई कर्म हो नहीं सकता। ईश्वर ने शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियाँ दी हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानार्जन में सहायक होती हैं और कर्मेन्द्रियां कर्म करने में सहायक होती है। शरीर पाँच भूतों से बना है। अतः इसस पाँच प्रकार की क्रियायें की जा सकती हैं।

ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति मनुष्य है, इससे श्रेष्ठ कृति और कोई नहीं। मनुष्य का जन्म पूर्व जन्मों के अनभोगे कर्मों को भोगने के लिये और भविष्य के लिये कर्म करने के लिये होता है। परन्तु अन्य पशु, पक्षी आदि का जन्म कर्मफल भोगने के लिये होता है। तीन प्रकार के कर्म हैं—संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण।

1. संचित कर्म— जो पूर्व जन्मों में कर्म किये गये उनमें से जो अनभोगे रह गये और अभी तक उनके भोग भोगने की बारी नहीं उन्हें संचित कर्म कहते हैं। जिन्हें भोगने के लिये ईश्वर जन्म देता है।

2. प्रारब्ध कर्म— जिन कर्मों का फल इस जन्म में भोग रहे हैं, उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं?

3. क्रियमाण कर्म— जो अब नवीन कर्म करते जाते हैं उनका संग्रह होता जाता है, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। अन कर्मों में से कुछ को भोग लिया जाता है, शेष संचित कर्मों की सूची में जुड़ जाते हैं।

सुख-दुःख का कारण क्या है?

सुख-दुःख का कारण मनुष्य के कर्म हैं । पुण्य कर्मों का फल सुख और पाप कर्मों का फल दुःख मिलता है । ईश्वर पूर्ण रूप से न्यायकारी है । वह किसी की सिफारिश नहीं मानता, उनका कोई एजेंट, पीर, पैग़म्बर या अवतार नहीं है । मनुष्य जन्म में किये गये कामों के अनुसार ही अगला जन्म मिलता है । यदि अच्छे कर्म ज्यादा और बुरे कर्म कम हों तो अगला जन्म मनुष्य का मिलता है । अगर बुरे कर्म अधिक हों तो पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा, आदि का जन्म हो सकता है । इसके बहुत से उदाहरण बच्चों को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान है और वे पूर्व जन्म में भी मनुष्य योनि में ही थे ।

भाग्य या प्रारब्ध क्या है ?

मनुष्य जो भी अच्छा या बुरा कर्म करता है, उसके बदले जो उसको फल मिलता है वही उसका भाग्य है । इस प्रकार मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है । कोई दूसरा न उसके भाग्य को बना सकता है और न ही कोई बिगाड़ सकता है । कुछ अच्छे बुरे कर्मों का फल प्रशासन, न्यायालय दे सकते हैं, अगर वहाँ पर उसका फल न मिले तो ईश्वर अवश्य उसका फल देता है । कर्म का फल कर्म करने वाले को ही मिलता है । किसी दूसरे को नहीं । ईश्वर सब को कर्म के अनुसार ही फल देत है न किसी को ज़्यादा न कम । ईश्वर के वहाँ ग़रीब, अमीर का भेदभाव नहीं होता । जैसा कि समाज में प्रशासन में देखने को मिलता है ग़रीब को ही दण्ड दिया जाता है, अमीर धन बल से बच जाते हैं ।

करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी बिना कर्मफल को भोगे उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता । चाणक्य नीति- पाप-पुण्य किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है । हमारे दुःख-सुख का उत्तरदायी परमात्मा नहीं बल्कि पाप-पुण्य कर्म करने वाला स्वयं है । बहुत से लोग कहते हें कि न जाने परमात्मा हम से किस जन्म का बैर निकाल रहा है । यह धारणा ग़लत है, निराधार है । ईश्वर बिना पाप कर्म के किसी को दुःख नहीं देता और न ही किसी से भेदभाव व ईर्ष्या, द्वेष रखता है ।

बाल्मीकि रामायाण –सीता हरण के पश्चात् श्रीराम सीता के वियोग में विलाप करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं कि निश्चय ही मैंने पूर्व जन्मों में पाप कर्म किये होंगे, एक के बाद एक दुःखों की परमपरा मेरे हृदय और मन को चीर रही हैं । उन्हीं पापों का फल मुझे मिल रहा है । इस पुस्तक में जो आप को वेद विरुद्ध बात लगे उसे छोड़ देना । पश्चाताप करने से पाप का फल खत्म नहीं हो जाता, पाप का फल तो भोगना ही पड़ता है । पश्चाताप करने से उसको अपने पाप कर्म का आभास हो जाता है, वह भविष्य में पाप कर्म करने से बच जायेगा । जो कर्म कर दिया उसका फल तो उसको भोगना ही पड़ेगा ।

श्री धर्मपाल कपूर जी ने 'कर्म' नामक पुस्तक में कर्म के विषय पर बड़ी गहराई से कर्म व्यवस्था पर प्रकाश डाला है । जो कर्म-व्यवस्था के विषय में लोगों में भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी गई है, उनको कर्म व्यवस्था को समझ कर पाप कर्मों से बचने में सहायक होगी । श्री धर्मपाल कपूर जी ने कर्म व्यवस्था का वर्णन बड़े ही सुनिश्चित ढंग से किया है । इस पुस्तक को पढ़ने वालों को अवश्य ही लाभ होगा । इस पुस्तक के सम्पादन का कार्य मुझे प्राप्त हुआ । अपने ज्ञान के अनुसार मैंने यह परिश्रम किया कि पुस्तक में किसी प्रकार की अशुद्धि न हरे, परन्तु मनुष्य अल्पज्ञ है, कोई न कोई त्रुटि रह ही जाती है । पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि जो बात आप को वेद विरुद्ध लगे उसे छोड़ दें ।

मैं श्री धर्मपाल कपूर जी की दीर्घायु और आरोग्यता की कामना करता हूँ ताकि वह यह परोपकार का कार्य निरन्तर आजीवन करते रहें ।

लाल चन्द चौहान
से.नि. राज्य विकास अधिकारी,
कोठी नं. 591, सैक्टर 12,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
मोबाइल : 8557057170
मोबाइल : 7508201740

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मो० : 9356301618

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	कर्म की परिभाषा	1
2.	कर्म के पाँच आधार	3
3.	कर्मों को वर्गीकरण	4
4.	सुख-दुःख और प्रारब्ध भोग	6
5.	कर्म, विकर्म, अकर्म	8
6.	सतोगुणी कर्म, रजोगुणी कर्म, तमोगुणी कर्म	9
7.	निष्काम कर्म	11
8.	कर्मसंन्यास	13
9.	काम करते हुए भगवत् प्राप्ति की साधना	19
10.	कर्मयोग के पाँच भेद	29
11.	भक्ति सहित निष्काम कर्मयेग से भगवद् प्राप्ति	38
12.	भगवान् के लिये काम केसे किया जाये ?	53
13.	कर्मयोगरहस्य	55
14.	कर्म और कर्मफल	61

1. कर्म की परिभाषा

सूरज कहता है नहीं किसी से मैं प्रकाश फैलाता हूँ।
बादल कहता नहीं किसी से मैं पानी बरसाता हूँ।।
कोयल कहती नहीं किसी से मैं अच्छा गा लेती हूँ।
सुमन कहे न कभी किसी से मैं सुगंध फैलाता हूँ।।
बातों से नहीं किन्तु कर्मों से होती है जग में पहचान।
घूरे पर भी नाच दिखाकर मोर झटक लेता है मान।।

कर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के ''कृ'' धातु से हुई है जिसका अर्थ है करना। वस्तुतः कर्म उस क्रिया को कहते हैं जिससे किसी दूसरे व्यक्ति को लाभ या हानि हो। परन्तु व्यक्ति को कुछ क्रियाएँ प्राकृतिक रूप से करनी पड़ती हैं जैसे पलकों को झपकना, जम्हाई लेना, छींकना, खांसना, मल-मूत्र त्यागना आदि। ये सब प्राकृतिक क्रियाएँ या भोग रूपी कर्म हैं क्योंकि इन से किसी भी व्यक्ति को लाभ या हानि नहीं पहुँचती है। ऐसी क्रियाओं का कोई कर्मफल भी नहीं होता है।

इसके विपरीत कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें व्यक्ति इच्छा से तो नहीं करता परन्तु वे मन से ही हो जाती हैं। ऐसी अनिच्छा से की गई क्रिया यदि किसी प्राणी के सुख-दुःख का कारण बन जाये तो इनका फल भी मिला करता है। जैसे कोई व्यक्ति सड़क पर टहलता हुआ अपनी छड़ी यों ही घुमा रहा है और वह छड़ी एक अन्य राही की आँख में जा लगे और उसकी आँख फूट जाये तो इस छड़ी घुमाने वाले को दण्ड अवश्य मिलेगा। यद्यपि यहाँ पर इच्छापूर्वक आँख फोड़ने की क्रिया नहीं की गई तथापि आँख तो फूटी ही। परन्तु इच्छापूर्वक आँख फोड़ने की अपेक्षा दण्ड की मात्रा कुछ कम हो सकती है।

कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। वह मन, वाणी व शरीर से कोई न कोई कर्म सदा करता रहता है। इस प्रकार ये

मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म गीता के अनुसार त्रिविध तप हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है–

चरन् वै मधु विदति चरन् स्वादुमधुप्वरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् चरैवेति चरैवेति।

चलता हुआ मानव ही मधु रूपी आनन्द लेता है, वह स्वादिष्ट गूलर प्राप्त करता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो, जो उदय-अस्त होते हुए कभी भी आलस्य नहीं करता। अतः तुम भी चलते रहो, चलते रहो। महर्षि दयानन्द भी अपनी पुस्तक ''आर्योद्देश्यरत्नमाला'' में लिखते हैं–

जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है, वह कर्म कहाता है।

अतः व्यक्ति मन, वाणी एवं शरीर से जो-जो शुभाशुभ कर्म करता है, उसका फल भी मन, वाणी एवं शरीर से वही भोगता है। न कि मन, वाणी या शरीर कर्मफल भोगते हैं। महर्षि दयानंद इन्द्रियों को कर्त्ता भोक्ता नहीं अपितु उनके संबंध से व्यक्ति को ही कर्त्ता भोक्ता मानते हैं।

2. कर्म के पाँच आधार

हम देखते हैं कि कर्म करने के निम्नलिखित पाँच आधार हैं ।

1. कारण – प्रत्येक कर्म को करने के लिए कोई न कोई कारण होता है । कारण के बिना कोई भी कर्म नहीं हो सकता । महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन में लिखते हैं–

कारणाभावात् कार्याभावः 4.3

जब कारण नहीं है तो कार्य भी नहीं होगा ।

2. कर्त्ता – प्रत्येक कर्म को करने वाला कोई न कोई कर्त्ता होता है । इसके बिना कर्म नहीं हो सकता है ।

3. साधन – प्रत्येक कर्म को करने के लिये साधन आवश्यक होते हैं ।

4. प्रयत्न – प्रत्येक कर्म को करने के लिये प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता है । इसके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता । भाग्य का निर्माण भी पुरुषार्थ से होता है ।

5. भाग्य – ये चारों साधन तो मानव के हाथ में हैं, परन्तु किसी कर्म की पूर्ति के लिये भाग्य का होना भी आवश्यक है, क्योंकि यह मानव के हाथ में नहीं है । अतः भाग्य का भी हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्व है । किसी भी कर्म की पूर्ति के लिये कर्म और भाग्य साथ-साथ चलते हैं । यदि भाग्य को कर्मों का समूह कहा जाये तो यह अतिशयोक्ति न होगी । क्योंकि कर्म करने से ही भाग्य बनता है ।

3. कर्मों का वर्गीकरण

प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने विचार होते हैं, यहाँ तक कि दो भाइयों के विचारों में भी विभिन्नता होती है। इसी कारण विभिन्न विद्वानों ने अपने विचारानुसार कर्मों के निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं–

1. क्रियमाण कर्म (तदबीर) – ये वे कर्म होते हैं जो व्यक्ति अपनी इच्छा से करता है। यह है कर्ता के सूक्ष्म शरीर पर जो संस्कार डालता है वह संचित कर्म होता है और वहीं पर जमा रहता है जब कि प्रारब्ध में नहीं आता। महर्षि दयानंद ''आर्योद्देश्यरत्नमाला'' में लिखते हैं–

जो वर्तमान में किया जाता है, सो क्रियामाण कर्म कहाता है।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि उसके द्वारा अच्छे बुरे कर्म हो रहे हैं वे सब प्रभु इच्छा या प्रारब्ध से होते हैं तो उसका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य पाप कराने में प्रभु या प्रारब्ध को हेतु मानने से मुख्यतः चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु एवं न्यायकारी प्रभु के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। यह मानना उचित नहीं कि प्रभु पाप पुण्य करवाते हैं, कर्म के लिये तो प्रभु की कभी प्रेरणा नहीं होती, और पाप कर्म का विचार मन में आते ही आत्मा में कम्पन और चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है। यह संकेत ईश्वर की ओर से होता है कि पाप कर्म है, मत करो। परन्तु उसका पालन करना, न करना व्यक्ति के अधिकार में है। जैसे सरकारी अफसर कानून के अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षण का अधिकारी है परन्तु अधिकार रूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकार में है, यद्यपि कानून तो बंधा नहीं है एवं कानून तोड़ने पर दण्ड का पात्र ही होता है। वही हालत कर्म करने में मानव के अधिकार की है।

वस्तुतः ये क्रियमाण कर्म ही संचित एवं प्रारब्ध के हेतुर्भूत हैं। अतः व्यक्ति को क्रियमाण शुभकर्म करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के करने में वह स्वतंत्र होता है।

2. संचित कर्म – ये वे कर्म होते हैं जो पूर्व जन्म में किए गए हों या

वर्तमान काल में किये गये हों, परन्तु जिनका भोग पिछले जन्म में या वर्तमान में नहीं मिलता है। जो कर्म अभी तक फलीभूत नहीं हुये हैं जिनका हिसाब देना अभी शेष है। दरअसल, अच्छे बुरे कार्य के करने से जो बीज रूप में संस्कार कारण शरीर में रहते हैं उनको ही संचित कर्म कहते हैं। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के इकट्ठे किये हुये और एक धरोहर के रूप में संगृहीत कर्म ही संचित कर्म कहलाते हैं। अतः महर्षि दयानन्द ने ''आयोद्देश्यरत्नमाला'' में लिखा है–

जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको ''संचित संस्कार'' कहते हैं।

जैसे एक किसान चिरकाल से खेती में जो अनाज उत्पन्न होता है उसका खेती करना कर्म है और अनाज से भरा हुआ कोठा उसका संचित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदय रूपी बृहत भण्डार में जमा होना संचित हैं संचित कर्म के अनुसार ही बुद्धि की वृत्तियाँ होती हैं। संचित कर्म ही के कारण उसी के अनुकूल हृदय में कर्मों के लिये प्रेरणा होती है। सात्विक, राजसी, तामसी सारी कर्म प्रेरणाओं का मुख्य कारण संचित कर्म ही होता हैं अतः संचित सदा प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करने के लिये व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता।

3. प्रारब्ध कर्म (तक़दीर) – ये वे कर्म हैं जिनको व्यक्ति पूर्व जन्म में करता है परन्तु इनको भोगता वर्तमान जन्म में है। संचित कर्मों में से जो पककर फल देते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं। वस्तुतः ये संचित कर्म ही होते हैं जिनका फल हमें इस जन्म में मिलता है। संचित और प्रारब्ध कर्मों को करने में हम पराधीन हैं। इस प्रकार के कर्म केवल भगवत्प्राप्ति के बाद ही क्षय होते हैं। अतः महर्षि दयानन्द ने आयोद्देश्यरत्नमाला'' में लिखा है–

जो पूर्व किये हुए कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भाग किया जाता है, उसको प्रारब्ध कहते हैं।

4. सुख-दुःख रूप प्रारब्ध भोग

सुख-दुःख रूप प्रारब्ध का भोग निम्नलिखित तीन प्रकार का होता है–

1. अनिच्छा प्रारब्ध – मार्ग में चलते हुये व्यक्ति पर वृक्ष टूट कर गिर जाना, बिजली गिर जाना, घर में बैठे हुए पर छत गिर जाना आदि दुःखरूप और मार्ग में चलते हुए धन मिल जाना, लॉटरी निकलना आदि सुखरूप भोग, जिनको प्राप्त करने की न मन में इच्छा की थी और किसी दूसरे की ही ऐसी इच्छा थी । अतः इस प्रकार से अचानक दैवयोग से स्वयं सुख-दुःख आदि रूप भोगों का प्राप्त होना अनिच्छा प्रारब्ध है । जैसे एक लेखक के शब्दों में–

भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।
समुद्रप्रमन्थनाल्ले भे हरिर्लक्ष्मी हरो विषम् । ।

सर्वत्र भाग्य ही फलित होता है विद्या व पुरुषार्थ पिछड़ जाते हैं । सागर मंथन के बाद लक्ष्मी तो विष्णु को उपलब्ध हो गई परन्तु शिव को विष ही मिला ।

2. परेच्छा प्रारब्ध – सोये हुए व्यक्ति पर चोरों का आक्रमण होना, जानकर किसी भी व्यक्ति के द्वारा दुःख पहुँचाना आदि दुःख रूप और कुपथ्य करते हुये किसी भी बीमार व्यक्ति को पकड़कर रोकना, बिना ही इच्छा के दूसरे के द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग, जो दूसरों की इच्छा से प्राप्त होते हैं उसको परेच्छा प्रारब्ध के नाम से पुकारा जाता है । जैसे किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति के घर चोरी की । इसमें उनके घर में चोरी होना तो उसके प्रारब्ध का भोग है । परन्तु जिसने चोरी की उसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा, क्योंकि किसी भी कर्म के भोग का हेतु पूर्व में निश्चित् नहीं होता ।

3. स्वेच्छा प्रारब्ध – एक व्यापारी द्वारा व्यापार में कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा प्रारब्ध है ।

इन कर्मों के करने के लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है उसका कारण प्रारब्ध है, तदन्तर क्रिया होती है। क्रिया का सिद्ध होना न होना, सुकृत दुष्कृत का फल है जैसे एक व्यक्ति रोग निवृत्ति के लिये औषधि लेता है। उसका रोग भाग जाता है। इसमें यह समझाना कठिन है कि यह उस औषधि का परिणाम है अथवा रोग समाप्त होने पर स्वतः ही रोग समाप्त हो जाता है। क्योंकि रोग पूर्वकृत पाप के फलस्वरूप भी होता है। कुपथ्य से होने वाला रोग प्रायः औषधि लेने से दूर हो जाता है, परन्तु कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होने तक दूर नहीं होता है और कौन सी कुपथ्य जन्य, अतः औषधि सब रोगों में लेनी चाहिये।

5. कर्म, विकर्म व अकर्म

1. कर्म – ये वे कर्म हैं जो व्यक्ति दूसरे लोगों की भलाई के लिये करता है जैसे रोगी की सेवा करना, निर्धनों की सहायता करना, लूले लंगड़ों की सहायता करना मानवता की भलाई के लिये अन्य कार्य करना आदि ।

2. विकर्म – ये वे कर्म होते हैं जिनके द्वारा दूसरे व्यक्ति को हानि हो । इनको कुकर्म के नाम से भी पुकारा जाता है । जैसे किसी व्यक्ति के धन व माल की चोरी करना, जुआ खेलना, परस्त्रीगमन करना, किसी को अपशब्द कहना आदि । किसी हिन्दी कवि ने लिखा है–

बुरे कर्म का कभी भला परिणाम न होगा ।
पापी जन के लिये कभी विश्राम न होगा । ।

विकर्म में धर्म की भावना नहीं होती है । ऐसे व्यक्ति को केवल नरक ही मिलता है । ऐसे व्यक्ति ईश्वर, धर्म, दान आदि में विश्वास नहीं करते हैं । ये अत्यंत भौतिकवादी होते हैं ।

3. अकर्म – ये वे कर्म होते हैं जो व्यक्ति केवल अपने लिये ही करता है । जैसे खाना, पीना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना आदि । कर्म, विकर्म और अकर्म का उल्लेख गीता में किया गया है ।

6. सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी कर्म

1. सतोगुणी कर्म – ये वे होते हैं जिसमें व्यक्ति कर्मफल का त्याग करता है। ऐसे कर्म करने वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। सतोगुणी कर्म से भी अहंकार को दूर करके आसक्ति को त्याग से ही दूर किया जा सकता है। इसके विषय में वेद में लिखा है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। यजुर्वेद 40.2

इस संसार में कर्मों को करते हुए ही व्यक्ति सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। यही एक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति में कर्म लिप्त न होंगे। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। याद रखो! यदि कोई व्यक्ति कर्म में ही लिपटा रहता है तो वह जन्ममरण के चक्र से कभी छुटकारा नहीं प सकता। किसी कवि ने लिखा है–

आवे दिआ खोतिया, आवे हेठ खलोतिया
कच्चियाँ लियावेगा, पक्कियाँ ले जावेगा
इहना नहीं ओ मुकना, ते तूँ नहीं ओ छुटना।

ईंटों के भट्टे पर कर्म करते हुए एक गधे को लेखक कहता है–

भट्टे के पास तू खड़ा है, कच्ची ईंटें तू लाता है, पक्की ईंटें तू ले जाता है। ये ईंटें कभी समाप्त नहीं होगी, तुझे कभी भी मुक्ति नहीं मिलेगी।।

वस्तुतः यही दशा उन व्यक्तियों की भी होती है जो कर्म के चक्कर में फँस जाते हैं और उसमें लिप्त हो जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि कर्म करते हुए कर्मचक्र में कैसे न फँसे। यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक शिक्षाप्रद कहानी इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है।

एक अमीर आदमी के यहाँ बच्चा पैदा हुआ। कहीं पत्नी का स्वास्थ्य न बिगड़ जाये इसलिये उसने बच्चे के पालनपोषण के लिये एक आया को नौकर रख लिया। आया ने बड़े लाड़ प्यार से बच्चे को पाला। आया बच्चे को दूध

पिलाती, कपड़े पहनाती, अपने साथ सुलाती, स्नान भी करवाती और उससे मीठी-मीठी प्यार भरी बातें करती। आया ने बच्चे को इस प्रेम एवं श्रद्धा से पाला कि वह आया के पास रहकर ही प्रसन्न रहता और अपनी माता के पास नहीं जाता था न ही उसे देखता था। बच्चे की माता को आया से ईर्ष्या-द्वेष होने लगा। अतः उसने अपने पति से आया की शिकायत करते हुए कहा–

यह क्या बात है, मेरा तो बच्चा ही पराया हो गया। इस आया को यहाँ से निकाल देना चाहिए।

पति ने अपनी पत्नी से कहा–अच्छी बात है, इस आया को छुट्टी दिये देते हैं। अस्तु उसे छुट्टी दे दी गई। आया ने अपना वेतन लिया, हँसती हुई चली गई और किसी अन्य व्यक्ति के घर जाकर आया की नौकरी कर ली। देखो भाई! इस प्रकार कर्त्तव्य समझकर प्रेम व श्रद्धा से अपने बच्चों का पालनपोषण करो। परन्तु उनके मोह में न फँसो। यही एक उपाय है जिससे व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्मचक्र में नहीं फँसता है।

2. रजोगुणी कर्म – ये वे काम होते हैं जो व्यक्ति फल की प्राप्ति के लिये करते हैं। ऐसे कर्म करने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। जैसे संसार में जितने भी व्यक्ति नौकरियाँ करते हैं, व्यापार करते हैं धनोपार्जन के लिये उपदेश देते हैं आदि वे सब व्यापारी हैं इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि लेन-देन का नाम सोदेबाजी होता है और देने का नाम समर्पण है। हम देखते हैं कि आज आध्यात्मिक जगत् में भी समर्पण बहुत कम है।

3. तमोगुणी कर्म – ये वे कर्म होते है, जिसमें व्यक्ति कहता है कि यदि फल न मिले तो कर्म ही नहीं करें, ऐसे व्यक्ति अत्यंत स्वार्थी होते हैं वे अपने लाभ के लिये दूसरों को हानि भी पहुँचाते हैं।

सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी कर्मों को अंग्रेजी भाषा में Golden Deeds, Silver Deeds and Iron deeds के नाम से पुकारा जाता है।

7. निष्काम कर्म

जब कोई भी व्यक्ति कर्त्तव्य की भावना से हटकर फल की इच्छा से या विषयवासनाओं के वशीभूत होकर कर्म करता है तो वही कर्म उसके लिये बंधन का कारण बन जाता है। ऐसे कर्मों में कर्त्तव्य भावना कम और अधिकार भावना अधिक होती है। जब व्यक्ति का ध्यान कर्म की ओर कम और फल की ओर अधिक होगा तो कर्मों में कुशलता कहाँ से आयेगी। वस्तुतः फल की कामना न करते हुये कर्त्तव्य भावना से जो कर्म किये जाते हैं वही निष्काम कर्म है। इसके विषय में महात्मा नारायण स्वामी जी ने अपनी पुस्तक ''मृत्यु और परलोक'' में लिखा है–

फल की इच्छा उत्पन्न किये बिना जो कर्म किये जाते हैं अर्थात् जो कर्म केवल धर्म (कर्त्तव्य) समझकर किये जाते हैं उनको निष्काम कर्म कहते हैं।

निष्काम कर्म वासना उत्पन्न नहीं करते जिससे मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता। निष्काम कर्म का अर्थ कर्मफल की आशा का त्याग नहीं, अपितु कर्म के फल पर अधिकार का, आसक्ति का लगाव का त्याग है। जब व्यक्ति कर्मफल पर अपना अधिकार न समझकर जो कुछ फल मिलता है उसे प्रभु को अर्पण कर देता है, तो कर्मफल में आसक्ति भी नहीं रखता तो उसका कर्म कर्मयोग बन जाता है। इसके विषय में महात्मा हंसराज जी के जीवन की एक घटना इस प्रकार है।

महात्मा हंसराज जी ने अपना जीवन आर्यसमाज को दान कर दिया था। बड़े भाई केवल 40 रुपये मासिक देते थे और उस पर ही उनका गुजारा चलता था। एक बार की बात है कि किसी कारण से बड़े भाई नाराज़ हो गये और सहायता भी बंद कर दी। महात्मा हंसराज जी के पास घर में केवल छः आने थे और घर में खाने को भी कुछ भी नहीं था। तीन दिन इस प्रकार व्यतीत हो गये। पत्रों में उन दिनों महात्मा जी के विरुद्ध लेख छप रहे थे। उन्होंने घबराकर कहा–मैं यह कौन से मार्ग पर चल पड़ा हूँ?

इस प्रकार घबराकर वे एक छोटे से कमरे में चले गये और वहाँ पर इधर-उधर अनमने भाव से चलने लगे। जैसे जल के अभाव से मछली तड़पती है उसी प्रकार घबराहट से उनका दिल तड़फने लगा। तभी वे अपनी अलमारी के पास पहुँच एक पुस्तक निकालकर पढ़ने लगे। उसका एक पृष्ठ खोला, वहाँ पर लिखा था–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। गीता 2.47

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है परन्तु परिणाम तेरे हाथ में नहीं है। अतः परिणाम का हेतू मत बन अर्थात् ममता, आसक्ति और वासना से रहित हो जा और तेरा कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। गीता का यह श्लोक पड़ते ही महात्मा हंसराज पर ऐसा प्रभाव पड़ा जैसे कोई उनके सामने खड़ा हो और कहता हो–''अरे घबरा क्यों गया? तेरा काम केवल कर्म करना है, उसके परिणाम की चिन्ता करना नहीं। परिणाम को प्रभु पर छोड़ दो और आगे बढ़ो। यह है निष्काम कर्म का परिणाम। इससे महात्मा हंसराज का दिल कभी भी डगमगाया नहीं और उन्हीं को सुख, शान्ति और आनन्द की अनुभूति हुई।

वस्तुतः जो व्यक्ति दूसरों का भला सोचता है तो इसमें उसका स्वयं का भी भला होता है क्योंकि हमें लौटकर वही मिलता है जो हम दूसरे व्यक्तियों को देते हैं क्योंकि भला शब्द को यदि उलटा दिया जाये तो यह लाभ हो जाता है। अतः हमें अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरों का भला अवश्य करना चाहिये क्योंकि इससे स्वयं का भी भला होता है।

अतः कर्मयोग का अर्थ है कि परमात्मा से मन एवं बुद्धि का योग होना चाहिए। यदि कोई भी व्यक्ति सारे सांसारिक कार्य करता हुआ अपने परिणाम का परित्याग न करके मन की आसक्ति को संसार में लगाता है तो वह कर्म भोग बन जायेगा।

8. कर्मसंन्यास

इसका अर्थ है कि कर्म का सर्वथा परित्याग करके और मन को प्रभुभक्ति में लगा दे। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति को भी भगवत्प्राप्ति होती है। इससे केवल उसका ही कल्याण होता है न कि संसार का। परन्तु कर्मयोगी कर्म संन्यासी से श्रेष्ठ है क्योंकि इसका एक तो भगवत्प्राप्ति होती है और दूसरे संसार का कल्याण भी होता है।

ईसाइयों और मुसलमानों आदि मतों का विचार है कि हमारा वर्तमान जीवन प्रथम और अंतिम जीवन है और हमारा पुनर्जन्म भी नहीं होता। बाइबल और कुरान में आता है कि खुदा चौथे और सातवें आकाश में रहता है और वह सर्वव्यापक नहीं है।

परन्तु परमात्मा सृष्टिसृजन धारण, प्रलय और कर्मफल में स्वतंत्र है और इन कार्यों में उसे किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है। कोई भी मानव ये कार्य नहीं कर सकता है। मानव को अगला जन्म भी उसके कर्मानुसार मिलता है। स्वर्ग, नरक, सुख-दुःख मानव के कर्मों के फल हैं। यहाँ तक कि अपने कर्मों के द्वारा वह मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। सागर खयामी ने लिखा है–

हिन्दू ये सोचते हैं कि बैकुंठ जायेंगे,
मुस्लिम यह सोचते हैं कि फिर दोष जायेंगे
ईसाइयों को नाज है कि ईसा बचायेंगे।
मेरा ख्याल है सभी सीटी बजायेंगे।
हिन्दू ही जायेगा न मुसलमान जायेगा।
जन्नत में गर गया तो कोई इन्सान जायेगा।

अतः वेद संदेश हे कि मनुर्भव अर्थात् मानव बनो।

विभिन्न विद्वानों ने कर्मसिद्धान्त मानने में अधोलिखित मुख्य बिन्दुओं का मानना आवश्यक माना है जिनके माने बिना कर्मसिद्धान्त स्पष्ट नहीं हो सकता है।

(1) प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना ।

(2) प्रभु सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी व्यक्तियों के कर्मानुसार विपाक (कर्मफल) दाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में तो स्वतंत्र है परन्तु परिणाम भोगने में परतंत्र है जैसे माताएँ भोजन बनाने में स्वतंत्र हैं चाहे जो बनावे, वे चाहे जब बनावे, परन्तु जब अग्नि पर रोटी पकती है तो अधिक देर तक नहीं रख सकती । वहाँ स्वतंत्रता नहीं है वहाँ परतंत्रता है । इसी प्रकार जब आप खाने बैठते हैं तो आप भी खाने में परतंत्र हैं । अधिक नहीं खा सकते । उसकी भी सीमा है, सीमा के अन्दर ही रहकर रोटी फुलाई जा सकती है और सीमा के अंदर ही खाई जा सकती है अन्यथा सीमा उल्लंघन करते ही रोटी जल जायेगी और सीमा का उल्लंघन कर खाने से पेट में दर्द होने लगेगा । अभिप्राय यह है कि आप किसी सीमा तक ही स्वतंत्र है और कर्म करने में स्वतंत्र है । अर्थ यही है कि आप उद्यान में घूमने के लिये तो स्वतंत्र है परन्तु उद्यान के नियमों के साथ रहकर उनको पालन करने में आप परतंत्र हैं । अतः मानव कर्म करने में स्वतंत्र हैं, परन्तु परिणाम भोगने में परतंत्र हैं क्योंकि परिणाम केवल प्रभु ही देते हैं ।

4. कर्म विपाक (कर्मफल) मुख्यतः कर्त्ता को ही होता है न कि अन्य किसी भी व्यक्ति को । कर्म का प्रभाव फल का एवं संस्कार भी कर्त्ता को ही होता है न कि अन्य किसी भी व्यक्ति पर होता है ।

5. कर्म कर्त्ता के जाति, आयु एवं भोग का कारण है और कर्त्ता एवं अन्यों के लिये फल संस्कार एवं प्रभाव का साधन है । संसार के किसी भी व्यक्ति से यदि कोई पाप हो गया है तो यदि संसार के सारे व्यक्ति परमात्मा से प्रार्थना करे तो भी कर्म का फल भोगना पड़ेगा, पाप कर्म ईश्वर कभी किसी के भी क्षमा नहीं करता, सबको यथावत् कर्मानुसार फल अवश्य देता है ।

6. प्रभु बिना कर्म के परिणाम नहीं देते हैं । अतः परिणाम तभी देता है, अर्थात् कर्मानुसार ही फल मिलता है । यदि व्यक्ति कर्म करता है । प्रत्येक कर्म का परिणाम भी अलग होता है ।

7. कर्म का विपाक संस्कार प्रभाव परिणाम होता है जैसे व्यक्ति कर्म करता है वैसे ही उसके संस्कार बनते हैं तभी तो मन को संस्कारों का कोष कहा जाता है ।

8. आत्मा अजर एवं अमर है और व्यक्ति का पुनर्जन्म होता हैं व्यक्ति को आगामी जन्म भी उसके कर्मानुसार मिलता है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को शुभ कर्म करने चाहिये ।

9. शुभ कर्म का फल सुख और अशुभ कर्म का फल दुःख होता हैं अतः प्रत्येक पुरुष को सुख, शांति एवं आनन्द की प्राप्ति के लिये शुभ कर्म ही करने चाहिये ।

10. जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है । कर्म और कर्मफल का समवाय (निश्चित्) सम्बन्ध है इसी प्रकार कर्म और उसके विपाक का सम्बन्ध है । जिस प्रकार बिना सूर्य के प्रकाश नहीं हो सकता, इसी प्रकार कोई विपाक बिना कर्म के नहीं हो सकता । साथ ही साथ यह भी असम्भव है कि सूर्य के होते हुए प्रकाश न हो, इसी प्रकार कर्म के हो जाने पर उसका विपाक न हो, यह भी सम्भव नहीं है । विपाक केवल प्रभु के हाथ में है, उसकी ही व्यवस्था से विपाक प्राप्त होता है इसलिये कभी उसमें कोई अंतर पड़ता और यही कहा जाता है कि विपाक का संबंध कर्म के साथ समवाय (निश्चित्) सम्बन्ध है । एक हिन्दी कवि ने लिखा है–

करनी करे तो क्यों डरे, करके क्यों पछताय ।
बोये पेड़ बबूल के, तो आम कहाँ से खाय ।।

बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है–

स वा एष महानज आमाऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसुय एवं वेद 4.4.24

वह सर्वव्यापक नित्य परमात्मा आन्नादो है अथवा सारे भोग्य पदार्थों को सब प्रकार देने वाला है, वह प्राणियों के लिये धनैश्वर्यों का दान करता है । एक हिन्दी कवि ने लिखा है–

मेरे दाता के दरबार में सब लोगों का खाता ।
जो कोई जैसी करनी करता, वैसा ही फल पाता ।।
क्या साधु, क्या संत, गृहस्थी, क्या राजा, क्या रानी ।
प्रभु की पुस्तक में लिखी हे सबकी कर्म कहानी ।।
अंतर्यामी अंदर बैठा, सबका हिसाब किताब लगाता ।
बड़े-बड़े कानून प्रभु के बड़ी-बड़ी मर्यादा ।।
किसी को कौड़ी कम नहीं मिलता, मिले न पाई ज़्यादा ।
इसीलिए वह दुनियाँ का जगत् पति कहलाता ।।
चले न उसके आगे रिश्वत, चले नहीं चालाकी ।
उसकी लेन देन की बंदे रीति बड़ी है बांकी ।।
समझदार तो चुप है रहता, मूर्ख शोर मचाता ।
अच्छी करनी करले बंदे कर्म न करयो काला ।।
लाख आँख से देख रहा है तुझे देखने वाला ।
उसकी तेज नजर से बंदे कोई नहीं बच पाता ।।
अच्छी करनी करो चतुर नर समय गुजरता जाता ।।

ईसा भी बाइबल में लिखते हैं–

मानव जो कुछ बोता है वही काटेगा ।

श्रीगुरुनालक श्रीगुरुग्रंथ साहिब में फरमाते हैं–

ददै दोसु न देऊ किसै दोसु करमा आपणिआ ।
जो मैं कीआ सो मैं पाइआ बीसु न दीजै अबर जना ।।

मनु जी महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं–

नाऽधर्मश्चरितो लोके, सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।। 4.172

मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्मकर्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को रोकता

है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है। महर्षि दयानन्द अपनी पुस्तक 'उपदेश मंजरी' में ठीक ही लिखते हैं–

पाप पुण्य का हिस्सा बिना भोगे छुटकारा नहीं मिलता अर्थात् पापों के फल को भोगना ही पड़ेगा।

इसके विषय में पं० लेखराम जी के जीवन की एक अत्यंत शिक्षाप्रद घटना इस प्रकार से है–

पं० लेखराम ग्राम-ग्राम में घूमकर आर्य समाज का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। एक दिन जब वे एक ग्राम में गये तो उस इलाके का कुख्यात डाकू मुगला भी उनके व्याख्यान को सुनने के लिये वहीं आ गया। उसके कई साथी भी दूसरे लोगों के साथ आकर बैठ गये। पं. लेखराम जी प्रवचन करते हुए कह रहे थे–

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं।।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्णखंड उत्तरार्ध 75.36

बिना भोगे हुए कर्मों का नाश करोड़ों कल्प भी नहीं होता है। शुभ अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

जो भी किसी भी व्यक्ति ने शुभ या अशुभ कर्म किये हैं उनका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। कर्मफल से बचने का कोई मार्ग नहीं है। दूसरे लोग न देखें, पुलिस न देखे, सरकार ने देखे परन्तु याद रखो। एक आँख है जो तुम्हें प्रतिक्षण देख रही है। तुम्हारे हृदय के भीतर कुछ होता है, उसे भी वह जानती है। वही प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का परिणाम देती है। जब व्याख्यान समाप्त हुआ तो मुगला डाकू ने पं० लेखराम जी के पास जाकर कहा–''आप कौन हैं?'' पं० लेखराम जी ने उत्तर दिया –''मैं लेखराम हूँ।''

डाकू ने कहा–''मैं एकान्त में आपसे कुछ बातें पूछना चाहता हूँ। क्या आपसे मिल सकता है। लेखराम जी ने उत्तर दिया–''अवश्य मिल सकते हो। मैं आर्य समाज में ठहरा हूँ, वहीं आ जाना।

रात के समय मुगला और उसके साथी आर्य समाज में पहुँच गये। मुगला डाकू ने पं० लेखराम जी से हाथ जोड़कर कहा—आप तो कह रहे थे कि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। तो क्या वह ठीक है। पं० लेखराम जी ने उत्तर दिया—''शत प्रतिशत ठीक है'' मुगला बोला—''क्या प्रत्येक कर्म का फल भोगना पड़ेगा? क्या बचने का कोई उपाय नहीं है?

पं० लेखराम जी ने उत्तर दिया—''कोई नहीं''

मुगला ने कहा—''तो फिर क्या बनेगा? मैं तो कई वर्षों से डाके मारता हूँ। पं० लेखराम जी ने कहा— ''आज से छोड़ दो। कल आर्य समाज में आओ, मैं तुम्हें यज्ञोपवीत दूँगा। इसके पश्चात् धर्म के मार्ग पर चलो।''

मुगला और उसके साथी दूसरे दिन आर्य समाज में पहुँच गयें सबका जीवन बदल गया।

9. काम करते हुए भगवत्प्राप्ति की साधना

काम करते हुए भी हम प्रभु को सदा-सर्वदा याद रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग काम को छोड़कर भजन-ध्यान में नहीं लग सकते। वास्तव में गीता के अनुसार काम को छोड़ देने की आवश्यकता भी नहीं है। लोग मूल से ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेने का ही उपदेश देती है। परन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर भीख के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करने को तैयार ही हो गये थे। उन्होंने श्रीकृष्ण से स्पष्ट कह दिया था—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।। —गीता 2/5

इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारी समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा।

परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे अपना स्मरण करते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करने की आज्ञा दी।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। —गीता 8/7

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय में निरन्तर मेरी तरह ईश्वर का स्मरण कर और जैसे मैं युद्ध करता हूँ वैसे ही तू भी कर। इस प्रकार ईश्वर के समर्पित किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निस्सन्देह ईश्वर को ही प्राप्त होगा। जैसे मैंने ईश्वर प्राप्ति के लिये योग साधना की है।

श्रीकृष्ण के इस उपदेश के अनुसार जब भगवत्स्मृति के रहते हुए युद्ध

जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हम लोगों के साधारण कार्यों के होने में तो कठिनाई ही क्या है ?

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पद्मव्ययम् ।। —गीता 18.56

ईश्वर को परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी ईश्वर कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है ।

अतः हमें सदा प्रभुशरण में रहकर कर्म करने चाहियें । कई भाइयों का कहना है कि काम करते हुए भजन करने से काम अच्छी तरह नहीं होता और काम को अच्छी तरह करने से भजन निरन्तर नहीं होता । उनका यह कहना ठीक है । आरम्भ में ऐसी कठिनाई हो सकती है, परन्तु आगे चलकर अभ्यास के बढ़ जाने पर प्रभुकृपा से यह कठिनाई नहीं रहती । इसलिये काम करते समय भी हमें भजन का अभ्यास डालना चाहिये । इस सम्बन्ध में नटनी का उदाहरण सामने रखा जा सकता है । नटनी बाँस पर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती है । किन्तु इन सब क्रियाओं को करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर अपने पैरों पर ही रहता है । इसी प्रकार गाने-बजाने की भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरों के ध्यान की तरह हमें परमात्मा में अपना मन रखना चाहिये ।

जब हम लोग कोई भी काम करें, उस समय हमें श्वास या वाणी द्वारा प्रभु के नाम का जप तथा गुण-प्रभाव के सहित उनके स्वरूप का ध्यान करते हुए ही काम करने का अभ्यास डालना चाहिये । काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह मेरा कर्त्तव्य है और ईश्वर की आज्ञानुसार मैं इसे कर रहा हूँ । प्रभु मेरे सब काम को देख रहे हैं—ऐसा समझकर सदा पुण्य कार्य ही करते रहना चाहिये ।

इस प्रकार मन से प्रभुचिन्तन और श्वास या वाणी से उनके नाम का जप करते हुए ही अभ्यास करने से प्रभुप्राप्ति सहज ही हो सकती है । ऐसा

अभ्यास करने से आरम्भ में मन एकाग्र हो जाता है । वास्तव में जप ध्यान में कमी नहीं आनी चाहिये ।

हम लोगों को प्रातः सायं दोनों समय नियमित रूप से अपन-अपने अधिकार के अनुसार प्रभु की उपासना अवश्य ही करनी चाहिये । क्योंकि प्रातःकाल की उपासना प्रेमपूर्वक करने पर प्रभुकृपा से दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है । स्मृति को तैलधारा की तरह अखण्ड बनाये रखने के लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए प्रभु को अपने साथ समझना चाहिये । मन में सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे प्रभु देख रहा है ।

हमें प्रभु के हाथ में अपनी बागडोर संभालकर उनके नियमानुसार काम करना चाहिये । इस प्रकार के अभ्यास से हमें प्रत्यक्ष में शान्ति का अनुभव होने लगेगा और हमारे इस साधन से आत्मबल बढ़ेगा और ईश्वर में आस्था बनेगी । इसी प्रकार सायंकाल की भी उपासना प्रेमपूर्वक करने पर भगवत्कृपा से रात में और सोने के समय भी प्रभुस्मृति रह सकती है । उससे दुःस्वप्नों का नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता एवं शान्ति बनी रहती है । इसलिये हमें अपने मस्तक पर प्रभु का हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदि को मृत्यु के समान समझकर अपने जीवन के क्षणों का उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्यों में ही करना चाहिये । प्रभु नाम का जप और गुण तथा प्रभावसहित उनके स्वरूप का ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञा के अनुसार तत्परता के साथ काम करना चाहिये ।

परन्तु इस साधना में निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं—क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, शोक, मोह, अभिमान, मनोमालिन्य, रोग-द्वेष और घृणा आदि । इन विघ्नों को मृत्यु के सामन समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है । इनसे छुटकारा पाने का मुख्य उपाय है—प्रभुशरणागति (समर्पण) । इस शरणागति का यदि पूर्णतः पालन कर लिया जाये तो उपयुक्त

विघ्नों से सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो संदेह ही क्या है? जो भी सुख-दुःख आते हैं वह जीव के पूर्व कर्मों के फल हैं। ईश्वर किसी को कष्ट नहीं देता और न ही किसी की परीक्षा लेता हैं इश्वर न्यायकारी है, वह सबके साथ न्याय का व्यवहार करता है।

अतएव प्रभुमिलन की इच्छा वालों को चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधान के अनुसार अपनी दिनचर्या को बनायें। प्रभु हमें पापों से पृथक् करने विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होने के लिये हमें चेतावनी दिया करते हैं। जब कोई पाप करने का विचार मन में आता है तो आत्मा में कम्पन होती है, वह ईश्वर की ओर से चेतावनी है कि पाप कर्म है मत करो। बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छा से होने वाले अनिष्ट घटनाएं घटती हैं। व्यक्तियों तथा पशु-पक्षियों आदि द्वारा परेच्छा से जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी प्रभु प्रेरणा समझनी चाहिये। हमें उन विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य से काम लेना चाहिये। ये आपदा भी मानव द्वारा प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने पर ही आती हैं। इस विनाश का कारण भी मनुष्य ही है।

निन्दा और अपमान जिस दिन हमें विचलित नहीं करेंगे उस दिन से समझना चाहिये कि हम प्रभु के सन्निकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थिति से वह स्थिति बिल्कुल विपरीत होगी। जो मान और स्तुति आज हमको अमृत समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत् शरणापन्न होने पर विष के समान लगने लगेंगे। जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदय में प्रसन्नता की लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदय की वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदय में स्तुति सुनने के समान ही प्रसन्नता की लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम प्रभु समीप आ गये हैं। मान अपमान समान लगने लगे जायेंगे।

हमें चाहिये कि हम उन पुरुषों को, जो हमारी निन्दा करते हैं, उसी भाव

से देखें जिस भाव से हम अपनी प्रशंसा करने वाले को देखते हैं । कबीरदास जी कहते हैं कि निन्दक पुरुष को अपनी कुटिया देकर अपने पास बसाना चाहिये । जैसे–

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय ।।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकार से हो अपनी निन्दा करने वाले को अधिक-से-अधिक अपने सम्पर्क में रखा जाये; क्योंकि वह हमारे जिस कार्य की निन्दा करेगा उसे सुधारने की चेष्टा हमारे द्वारा अवश्य ही होगी । व्यक्ति को अपने दोष शीघ्र दिखलायी नहीं पड़ते, परन्तु किसी के द्वारा अपने दोषों के लिये चेतावनी दिये जाने पर कल्याणकारी पुरुष उन दोषों को दूर करने की चेष्टा करता है । अतएव हमें प्रसन्नतापूर्वक अपनी निन्दा सुनने का स्वभाव बनाना चाहिये । ऐसा स्वभाव बना लेने पर हमारे द्वारा होने वाले निन्दनीय कार्यों का तथा निन्दा-श्रवण से उत्पन्न होने वाले हमारे अन्तःकरण के विकारों का विनाश हो सकता है, इस के विषय में मैं आपको एक शिक्षाप्रद कहानी सुनाना चाहता हूँ–

एक दुकानदार था । उसके हृदय में किसी के प्रति जरा भी क्रोध, द्वेष या घृणा का भाव नहीं था । वह सभी कार्यों में भगवत्प्रेरणा का ही अनुभव किया करता था । वह स्वयं को प्रभुचरणों में समर्पित कर चुका था । एक बार पास के एक दुकानदार ने उसे इस प्रकार प्रत्येक विधान से संतुष्ट और कभी क्रोध न करते हुए देखकर विचार किया कि आज चाहे जैसे हो उसको क्रोध दिलाना चाहिये । यह निश्चय करके वह उसकी दुकान पर गया और प्रत्येक बात में उसके विपरीत बोलने लगा । उसने उसके प्रति न जाने कितनी कटूक्तियाँ, कितने अपशब्द कहे; परन्तु वह अपनी स्थिति से तिल भर भी विचलित न हुआ ।

अन्त में उसे किसी प्रकार भी क्रोध न करते देखकर उस दुकानदार को

अपनी असफलता पर कुछ निराशा हुई, परन्तु फिर भी उसने मन-ही-मन इस बात का दृढ़ संकल्प किया कि मैं इसे क्रोध दिलाकर ही विश्राम लूंगा। कुछ दिनों बाद मौका देखकर वह फिर उसके पास गया और कहने लगा—'आज मुझे अपने ससुराल जाना है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ चलो। उस भक्त ने उसके संतोष के लिये उसकी बात को स्वीकार कर लिया और साथ जाने के लिये तैयार हो गया। जब वे दोनों चलने लगे, तब उसने उस भक्त से कहा कि इस समय मेरे पास कोई नौकर नहीं है और मेरी इस मिठाई की हँडिया ससुराल तक ले जाना जरूरी है। क्या तुम अपने सिर पर रखकर उसे वहाँ तक ले चलोगे। उस भक्त ने सहर्ष उस हँडिया को अपने सिर पर रख लिया और वह उस दुकानदार के आगे-आगे चलने लगा।

जब वे लोग एक दूसरे स्थान पर पहुँचे, जहाँ पर बड़ा भारी जनसमूह एकत्र था, उपयुक्त अवसर देख कर दुकानदार ने पीछे से अपने डंडे से उस हँडिया को फोड़ दिया। हँडिया का फूटना था कि उसके भीतर का सारा कीचड़ और सारा मैला उस भक्त के शरीर पर फैल गया। उस भक्त को इस दशा में देखकर सारा जनसमाज हँस पड़ा। वह दुकानदार भी भक्त के सामने खड़ा होकर खूब हँसने लगा। उन सबको हँसते देखकर वह भक्त भी खिलखिलाकर हँसने लगा। तब उस दुकानदार ने पूछा कि 'भाई! मैं तो तुम्हारी इस दुरवस्था पर हँस रहा हूँ, परन्तु तुम्हारे हँसने का क्या कारण है!'

उस भक्त ने कहा—'मैं अपने ऊपर प्रभुकृपा का अनुभव करके हँस रहा हूँ। आपकी भी मुझपर कितनी दया हे जो कि आप पद-पद पर मेरी सम्भाल रखते हैं। नहीं तो किसको क्या गरज पड़ी है कि वह बिना किसी स्वार्थ के दूसरे का भला करे—उसकी पूरी सम्भाल रखे। आप तो सदा ही मुझ पर कृपा करके ऐसा कार्य करते रहते हैं जिससे मैं अक्रोध की कसौटी पर खरा उतर सकूँ। इस बात को सुनते ही वह दुष्टात्मा दुकानदार पानी-पानी हो गया। उसकी कलुषित भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गई, उसकी आँखें खुल गई। वह उस भक्त के चरणों में लेट गया और अपने अपराधों के लिये क्षमा माँगने लगा। उस भक्त ने उसे अपने हाथों से उठा लिया और कहा—'भाई!

आप तो मेरे गुरु हैं । आपके द्वारा ही तो मैं अक्रोध का पाठ पढ़ सका हूँ । आपको कितनी चिन्ता है ।

कहने का भाव यह है कि सब अपमान के कार्यों में सहनशीलता व धैर्य बनाये रखने में परम पिता परमात्मा ही सहायता करता है । इसी कारण ही उस महात्मा के मन में स्वयं जनसमाज में अपमानित किये जाने पर भी किंचिन्मात्र भी विपरीत भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ । उन विपरीत विघ्नों के प्राप्त हो जाने पर भी जरा भी दुःखी न होकर धैर्य को न छोड़ना यह प्रभु कृपा से ही सम्भव हो पाता है । दुःख, अपमान को सहने की शक्ति भी ईश्वर ही देता है । इसके विपरीत यदि हम उनके विधान में आनन्द नहीं मनाते, उनकी प्रसन्नता में प्रसन्न नहीं होते तो हम प्रभुभक्त कहाँ । इसीलिये इन सब विपरीत विधानों में भी हमें एक समान होना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से हम में आत्मबल और सहनशक्ति की वृद्धि होती है और साथ-ही-साथ भगवत्स्मृति होकर शास्त्रविपरीत कर्मों का होना रुक जाता है तथा शत्रु मित्र बन जाता है और विष अमृत के रूप में बदल जाता है । तुलसीदास जी रामचरितमानस में लिखते हैं–

गरल सुधा सम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ।

–उत्तरकाण्ड 119.4

इसकी चरितार्थता प्रह्लाद, मीरा आदि के जीवन में प्रत्यक्ष देखी जाती है । मीराबाई श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका थी । उसकी भक्ति से चिढ़कर राणा ने उसके प्राणों का हनन करने के लिये उसके पास विष का प्याला यह कहकर भेजा कि मीरा ! यह तेरे उपास्यदेव का चरणामृत है । कहना नहीं होगा कि भक्तिमती मीरा श्रीकृष्ण का नाम लेकर उसे पी गई । प्रभु के चरणामृत से बढ़कर उत्तम वस्तु उसके लिये और हो ही क्या सकती थी ।

इसलिये हम लोगों को भी अपने मन के प्रतिकूल जो कुछ भी हो उसे सहन कर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उन प्रभुकी प्रेरणा के शक्ति वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । अतएव चाहे हमारा कोई कितना ही

अनिष्ट क्यों न करे, हमें उससे क्रोध न करके प्रेम ही करना चाहिये—उसके प्रति आदरबुद्धि ही रखनी चाहिये। यह भी साधना का तत्त्व है। अपने से प्रेम करने वाले के साथ तो पशु भी प्रेम करते हैं। कुत्ते, गधे आदि सभी इसके प्रमाण है। देखा जाता है कि एक जब दूसरे से प्रेम करता है तो दूसरा भी उससे प्रेम करता है। जब एक कुत्ता दूसरे को चाटता है तो दूसरा भी उसको चाटता है। इसी प्रकार वैर के विषय में भी समझ लेना चाहिये। यदि हम लोग भी अपने से प्रेम करने वाले के साथ प्रेम और अपने से द्वेष रखने वालों के साथ द्वेष करें तो फिर हममें और पशुओं में अन्तर ही क्या है? हमें तो अपने से बैर करने वालों के साथ भी अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। ऐसा करने से ही हमारा वास्तविक मनुष्यत्व सिद्ध होगा।

इस विषय में हमारे सामने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेम के व्यवहार का जो आदर्श रखा है वह कितना उच्च है। निरपराधी राम को कैकेयी दशरथ जी की इच्छा न रहते हुए भी चौदह वर्ष के लिये वन में भेज रही है। श्रीराम उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करके सहर्ष वन जाने को तैयार है। कैकेयी की बाण के समान मर्मबेधी वचनों का उत्तर श्रीराम कितनी नम्रता और मधुरता के साथ देते हैं। वे कहते हैं—माता! वन में जाने से मुनियों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होगा। वन जाने में पिताजी की आज्ञा और आपकी भी सम्मति है। मेरे वन जाने से भाई भरत को राज्य मिलेगा। इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्य की और बात ही क्या हो सकती है। श्रीतुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है—

मुनिगन मिलनु विसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर।।
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू।
जौ न आऊँ बन ऐसेहु काआ। प्रथम गमिट मोहि मूढ़ समाजा।।

—अयोध्या काण्ड 41-42.1

इतने विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहार के होने पर भी कैकेयी ने निष्ठुरता का ही व्यवहार किया ।

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान ।
चलइ जोंक जल बक्र गति अद्यपि सलिलु समान ।।

—अयोध्या काण्ड 42

जब सीता भी रामचन्द्र जी के साथ वन जाने को तैयार हो गई तब कैकेयी उससे कहती है—हे सीते ! लो, तुम भी वल्कल वस्त्र धारण कर लो । सीता वल्कल वस्त्र अपने हाथ में ले लेती है । परन्तु वह राजकुमारी, जिसने कभी अपने हाथ से आभूषादि भी नहीं पहने, वल्कल वस्त्र पहनना क्या जाने । वह श्री राम की ओर देखने लग जाती है । ऐसी परिस्थिति में श्रीराम लज्जा की परवाह न करके सीता को वल्कल वस्त्र पहनाते हैं । इस अनुचित और करुणापूर्ण दृश्य को देखकर रनवास की स्त्रियाँ रो पड़ती हैं और वसिष्ठ जी कैकेयी के इस कठोर व्यवहार की कड़ी आलोचना करके सीता को वल्कल वस्त्र नहीं पहनाने का विधान करते हैं ।

अन्त में अपनी विमाता के दुर्व्यवहारों की ओर तनिक भी ध्यान न देकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम प्रसन्नवदन होकर हँसते-हँसते वन की ओर चले जाते हैं । इतना ही नहीं, अपितु चित्रकूट में तथा चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण होने में अयोध्या लौटकर सबसे प्रथम कैकेयी का ही आदर करते हैं । उनके इस आदर्श व्यवहार से हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई चाहे कितना ही कठोरतापूर्ण व्यवहार करे; परन्तु हमें उसके साथ प्रेम का ही व्यवहार करना चाहिये । परन्तु यह सब परिस्थितियों में लागू नहीं होती, विशेषतः युद्ध के मैदान में । इसके अतिरिक्त सहनशीलता की भी सीमा होती है ।

जब किसी को हम पर क्रोध होता है तो हमें समझना चाहिये कि हमारा कोई अपराध बन गया है इसी से तो इनको क्रोध आया है । यदि हमारा कोई

भी अपराध न होता तो उन्हें अकारण ही क्यों क्रोध आता । इस प्रकार अपने पर दूसरे के क्रोधित होने में अपने को ही उसका कारण मानकर अपने को ही अपराधी समझना चाहिये । परन्तु यदि अपने को भी क्रोध आ गया तो फिर अपनी नीचता की चरम सीमा ही समझनी चाहिये ।

किसी भी जीव पर बिना कारण नहीं क्रोध नहीं करना चाहिए, कारण को जान की उसकी सत्यता को भी जानना चाहिये, कई बार बिना विचारे ही कार्य करने से बहुत हानि होती है । पहले सच्चाई को जानना अति आवश्यक है । किसी को सुधारने के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग करना कोई अनुचित नहीं है । इस प्रकार के प्रेमपूर्ण व्यवहार के प्रभाव से शत्रु भी परम प्रिय बन जायेंगे । जैसे श्रीकृष्ण गीता में लिखते हैं–

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। –गीता 12.15

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है–वह सबका प्रिय होता है ।

अतः साधकों को निरन्तर प्रभुस्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञा के अनुसार काम करना चाहिये और अपने मन के प्रतिकूल कार्यों को नहीं करना चाहिये; क्योंकि प्रभु का प्रत्येक जीवों के कल्याण के लिये ही उपदेश होता है । यदि यह रहस्य यथातथ्य समझ में आ जाये तो भगवत्साक्षात्कार होकर सदा के लिये परमानन्द और परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है ।

10. कर्मयोग के पाँच भेद

श्रीमद्भगवद्गीता एक छोटा सा ग्रंथ है, परन्तु निष्कामकर्म और निष्कामभक्ति का जैसा तत्त्वरहस्य इसमें भरा हुआ है, वैसा एकत्र कहीं नहीं मिला। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि सारे शास्त्रों का सार इसमें गागर में सागर की भाँति भरा हुआ है। उसके अनुसार अपना जीवन बना लेने पर और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह जाता। अतः महाभारत के भीष्म पर्व में लिखा है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
आ स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।। —43/1

गीता का भली प्रकार से श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, गायन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर भी अन्य शास्त्रों के पठन की अत्यंत आवश्यकता है। क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश वैदिक है।

उपदेश कहने का भाव यह है कि यह गीता श्री कृष्ण जी के मुख कमल से निकली है। ब्रह्मा जी ने चारो ऋषियों से वेद ज्ञान प्राप्त किया जो सम्पूर्ण शास्त्रों के मूल हैं। अब यहाँ गीतोक्त कर्मयोग के विषय में विचार किया जाता है। गीता में कर्मयोग का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह संक्षेप में इस प्रकार है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जिस मनुष्य के लिये जिन कर्मों का शास्त्रों में विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्य के लिये आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मों का न्यायपूर्वक, अपना कर्त्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मों में और उनके फलों में ममता, आसक्ति और कामना का सर्वथा त्याग करके कर्म की सिद्धि और असिद्धि में और उसके फल में सदा ही सम रहना; परमेश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वसुहृद् और सर्वप्रेरक समझकर एवं अपने को सर्वथा उनके अधीन मानकर सारे कर्मों और उनके फलों को प्रभु के समर्पण करना; ईश्वर की आज्ञा और प्रेरणा के अनुसार पुण्य कर्मों को करना;

परन्तु ऐसा करते हुए भी उन कर्मों में और उनके फलों में किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना न रखना; प्रभु के प्रत्येक विधान में सदा ही परम संतुष्ट रहना तथा उनके नाम, गुण, स्वभाव और स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना। इस कर्मयोग को पाँच भेदों में विभक्त कर सकते हैं–

1. केवल कर्मयोग – जिस साधन में प्रभु की भक्ति अर्थात् भजन-ध्यानादि रूप उपासना का सम्मिश्रण नहीं रहता और केवल निष्काम तथा अनासक्त भाव से कर्म का अनुष्ठान किया जाता है वह केवल कर्मयोग है। केवल कर्मयोग्य का वर्णन गीता में यों मिलता है–

(1) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। –गीता 2/47

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके परिणाम में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के परिणाम की इच्छा न कर। अर्थात् ममता, आसक्ति और वासना से रहित हो जा तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। ईश्वर ने जीव को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है परन्तु उसका परिणम ईश्वर के अधीन है।

(2) विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। –गीता 2/71

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकार रहित और इच्छारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।

(3) ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।। –गीता 5/3

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की इच्छा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(4) **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।**
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। —गीता 6/1

जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है ।

(5) **यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।**
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। —गीता 6/4

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ।

उपर्युक्त सभी श्लोकों में कर्म और उसके फल में आसक्ति, कामना आदि का त्याग करते हुए अर्थात् निष्काम भाव से ही कर्म करने का आदेश एवं संकेत है, अतः इनमें केवल कर्मयोग का ही वर्णन है, भक्ति का सम्मिश्रण नहीं है ।

2. भक्ति गौण कर्मयोग – जिस साधन में कर्म की तो प्रधानता है, परन्तु साथ में प्रभु की भक्ति का भी सम्बन्ध है, वह भक्ति-गौण कर्मयोग का वर्णन गीता में यों मिलता है ।

(1) **त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।**
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। —गीता 2/45

हे अर्जुन ! वेद तीनों गुणों के कार्यरूप सारे भोगों और उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु प्रभु में स्थित, योग क्षेमको न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो ।

यहाँ आगे पीछे कर्मयोग का प्रसंग है और इस श्लोक में नित्यसत्त्वस्थ यानी प्रभु में स्थित होने का आदेश है । अतः इस कर्मयोग में भक्ति का सम्मिश्रण है । इसी प्रकार–

(2) **तस्माद्सक्तः सततं कार्ये कर्म समाचर ।**
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। —गीता 3/19

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर सदा कर्त्तव्य कर्म को भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ व्यक्ति प्रभु को प्राप्त हो जाता है ।

यद्यपि तीसरे अध्याय में प्रधानतः केवल कर्मयोग का ही विषय है तथापि प्रकरणवश कोई-कोई श्लोक भक्ति-गौण और भक्ति प्रधान कर्मयोग का भी आ गया है। जैसे तीसरे अध्याय के उक्त 19वें श्लोक में तो भक्ति-गौण कर्मयोग का और 30वें श्लोक में भक्ति-प्रधान कर्मयोग का वर्णन है। 19वें श्लोक में अनासक्त भाव से कर्म करने का आदेश होने से उसमें निष्कामकर्म की प्रधानता है; क्योंकि आसक्ति के अभाव के अन्तर्गत ही कामना का अभाव है और इस साधन के फल-स्वरूप साधक को परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य होने से कर्मयोग के साथ प्रभु की भक्ति भी मानी गई है ।

इसी प्रकार—

(3) **न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।**
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्म स बध्यते ।। —गीता 4/14

कर्मों के फल में मेरी परवाह नहीं है इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो ईश्वर को तत्त्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बंधता। जिसको कर्मों के फल की स्पृहा (परवाह) नहीं है। वह निष्काम कर्मयोगी है और कर्मफल परवाह न होने के कारण प्रभु को कर्म लिप्त नहीं करते यों प्रभु को जानना प्रभु की भक्ति है। अतः इस श्लोक में भी कर्मयोग के साथ प्रभुभक्ति गौण मानी गई है ।

3. भक्ति-सामान्य कर्मयोग – जिस साधन में कर्म की प्रधानता होने पर भी प्रभु भक्ति की भी प्रधानता रहती है, वह भक्ति-सामान्य कर्मयोग है। जैसे—

(4) **तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रिया ।**
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। —गीता 17/24

इसलिये वेदमंत्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएं सदा 'ओ३म्' इस प्रभु के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।

(5) **तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।**
दान क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।। —गीता 17/25

'तत्' अर्थात् तत् नाम से कहे जाने वाले प्रभु ही यह सब हैं—इस भाव से फलको न चाह कर नाना प्रकार की यज्ञ तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा की जाती है ।

यहाँ 24वें श्लोक में प्रभु के नाम ओ३म् का उच्चारण करके कर्मों को करने का प्रतिपादन है और 25वें श्लोक में कहा हुआ 'तत्' शब्द प्रभु का वाचक है, इसलिये इन दोनों श्लोकों कर्मयोग के साथ भक्ति का मिश्रण है ।

इसी प्रकार—

(6) **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां यन सर्वमिदं ततम् ।**
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । —गीता18/46

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके व्यक्ति परमसिद्धि को पाप्त हो जाता है ।

इससे कर्म की प्रधानता होते हुए भी प्रभु की भक्ति का पर्याप्त सम्मिश्रण है । 18वें अध्याय के 42वें श्लोक में ब्राह्मण के, 43वें में क्षत्रिय के और 44वें वैश्य तथा शूद्र के स्वाभाविक कर्मों में भली भाँति लगा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन—ऐसा अर्जुन से कहकर इस 46वें श्लोक में उसी की यह विधि बताई

है—परमात्मा से ही सम्पूर्ण जगत् के प्राणी उत्पन्न होते हैं और प्रभु सबमें व्यापक हैं—ऐसा समझ कर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों द्वारा प्रभु की पूजा करने से परम सिद्धि मिलती है। अतः सबकी सेवा प्रभु की ही सेवा है—यों प्राणिमात्र में भगवद्भाव करके उनकी सेवारूप प्रभुपूजा करना—यह भक्ति का भाव है और सेवारूप कर्म करना कर्म है। इसमें कर्म की प्रधानता होते हुए भक्ति की भी प्रधानता हैं अतः यह 'भक्ति-सामान्य कर्मयोग' है।

4. भक्तिप्रधान कर्मयोग – जिस साधन में भक्ति की ही प्रधानता हो और कर्म गौण हो, वह भक्तिप्रधान कर्मयोग है। जैसे—

(1) ये तु सर्वाणि कर्माणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। —गीता 12/6

परन्तु जो मेरे उपदेश पर चलने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर के अर्पण करके सुख सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।

(2) चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।। —गीता 18/57

सब कर्मों को मन से ईश्वर में अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योग को अवलम्बन करके ईश्वर के परायण और निरन्तर चिन्तन करने वाले होते हैं। तेरा चित निरन्तर मेरे अर्पण हो। परन्तु इसका भाव यह नहीं कि मैं तुझे अन्याय करने को कहूं।

इन दोनों ही श्लोकों में शास्त्रविहित कर्मों का करना तो कर्म है और कर्मों को प्रभु के समर्पण करना, उनके परायण रहना तथा अनन्य भक्तियोग से उनको निरन्तर चिन्तन करते हुए भजना—इनमें भक्ति ही मुख्य है। अतः यह भक्तिप्रधान कर्मयोग है।

भक्तिप्रधान कर्मयोग के भी दो भेद हैं—(1) भगवदर्पण, (2) भगवदर्थ। भगवदर्पण कर्म वह है, जिसमें जो कुछ भी शास्त्र विहित कर्म

किया जाता है, वह प्रभु के अर्पण करके किया जाता है अर्थात् यह सब कुछ प्रभु का है, मैं भी प्रभु का हूँ और मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी प्रभु के ही हैं—यों समझकर प्रभु के आज्ञानुसार भगवदर्पण बुद्धि से कर्म किया जाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा है—

(3) **यत्करोति यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। —गीता 9/27-28

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब ईश्वर के अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें सारे कर्म प्रभु के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यास योग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा और उनसे मुक्त होकर ईश्वर को ही प्राप्त होगा। यह भगवदर्पण कर्म है।

भगवदर्थ कर्म यह है जो भगवद् प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा प्रभु की प्रसन्नता के लिये भगवदाज्ञानुसार किया जाता है। जैसे—

(4) **अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।**
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।। —गीता 12/10

यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल ईश्वर के लिये कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार ईश्वर के निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा।

5. केवल भक्तियोग – जिस साधना में केवल भक्ति ही हो, कर्मों का मिश्रण न हो, वह केवल भक्तियोग है। जैसे—

(1) **अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।**
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। —गीता 8/14

हे अर्जुन! जो पुरुष ईश्वर में अनन्यचित्त हुआ सदा ही निरन्तर परम पिता परमेश्वर ईश्वर को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर ईश्वर को युक्त हुए योगी को सहज ही ईश्वर प्राप्त हो जाता है।

(2) **अनन्याश्चितयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।**
तेषां नितयाभियुक्तानां योक्षेमं वहाम्यहम् ।। —गीता 9/22

जो अनन्यप्रेमी भक्त जन परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम में ईश्वर स्वयं वहन करता है ।

(3) **मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।**
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। —गीता 10/9-10

निरन्तर ईश्वर में मन लगाने वाले और ईश्वर में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में ईश्वर के प्रभाव को जनाते हुए तथा गुण और स्वभाव सहित कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और ईश्वर में ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को वह यथार्थ ज्ञान रूप योग देता है, जिससे वे ईश्वर को प्राप्त होते हैं ।

(4) **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।। —गीता 12/8

ईश्वर में ही मन और बुद्धि को लगा, इसके पश्चात् तू ईश्वर में ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

(5) **मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।**
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूपाय कल्पते ।। —गीता 14/26

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा ईश्वर को निरन्तर भजता है, वह भी सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों को लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होने के लिये योग्य बन जाता है ।

(6) **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। —गीता 18/65

हे अर्जुन ! तू ईश्वर में मन लगाने वाला हो, ईश्वर भक्त बन, उसी की उपासना करने वाला हो और उसको ही प्रणाम कर । ऐसा करने से तू ईश्वर को ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।

उपर्युक्त श्लोकों में यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का उल्लेख नहीं है, केवल अनन्य और निष्काम भाव से निरन्तर प्रभु का चिन्तन करना, उन्हें प्रेमपूर्वक भजना, उनके गुण-कर्म-स्वभाव का कथन करना, मन-बुद्धि को उन्हीं में लगा देना एवं उन्हीं की उपासना करना आदि का ही वर्णन है, जो सभी भक्ति के ही वाचक हैं और उन सबका फल प्रभुप्राप्ति है ।

ऊपर कर्मयोग के जो पाँच प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें से किसी एक का भी साधन करने से व्यक्ति को प्रभु की प्राप्ति हो सकती है । यही नहीं, इन पाँचों प्रकारों के जितने भी श्लोक ऊपर बताये गये हैं, उनमें से किसी भी एक श्लोक के अनुसार अपना जीवन बना लेने पर प्रभुप्राप्ति हो सकती है । फिर जो अपने अधिकारानुसार सारी गीता के अनुकूल ही अपना जीवन बना लेता है, उसको प्रभु की प्राप्ति हो जाये इसमें तो कहना ही क्या है । इस कर्मयोग के अतिरिक्त, ज्ञानयोग के द्वारा भी प्रभुप्राप्ति होने के बहुत से श्लोक, गीता में हैं, परन्तु यहाँ उसका प्रकरण न होने से उनका उल्लेख नहीं किया गया । यहाँ तो कर्मयोग द्वारा प्रभुप्राप्ति होने का ही दिग्दर्शन कराया गया है । अतः कर्मयोग के साधकों को कर्मयोग के ऊपरलिखित पाँचों प्रकारों में से अपनी रुचि और विश्वास के अनुसार किसी एक का भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परता से साधना करना चाहिये ।

11. भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग से भगवत्प्राप्ति

साधक के लिये आत्मोद्धार के दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्ग का अभिप्राय यह है कि साधक चेष्टा करता हुआ, कर्म करता हुआ मुक्त हो जाये, जैसे जनकादि। निवृत्तिमार्ग का अभिप्राय यह है कि साधक कर्मों का त्याग करके मुक्त हो, जैसे श्रीशुक-सनकादि। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल संन्यास-आश्रम ही निवृत्तिमार्ग है। संन्यास-आश्रम निवृत्तिमार्ग है, यह तो ठीक है ही; परन्तु गृहस्थाश्रम में भी व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गों के अनुसार चल सकता है।

गृहस्थाश्रम में निवृत्तिमार्ग के अनुसार चलने का अर्थ है—वानप्रस्थ की भाँति जंगल में एकान्त में – गिरि-गुहाओं में रहना तथा सांसारिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कर्मों से उपरत होकर प्रभु का भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय करना और ज्ञान-वैराग्य में मग्न होकर अपना समय बिताना। परन्तु भोजन-वस्त्र आदि जीवन-निर्वाह के साधन अपने घर वालों के अतिरिक्त दूसरों से ग्रहण न करना। यह निवृत्ति मार्ग के तुल्य है। इस प्रकार निवृत्तिमार्ग का पालन गृहस्थ भी कर सकता है; यह प्रवृत्ति में ही निवृत्ति है।

परन्तु यदि कोई संन्यासी होकर प्रवृत्तिमार्ग का विस्तार करता है तो वह निवृत्ति में प्रवृत्ति है और वह पतन करने वाली है। साधु संन्यासी होकर कंचन-कामिनी के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना या स्त्री से शरीर की सेवा कराना उसके लिये कलंक है; क्योंकि स्त्री और रुपयों के संस्पर्श से या इनमें प्रेम करने से संन्यासी नरक में जाता है। श्री स्कन्दपुराण में बतलाया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेपा सनातनी।।
हृदि सस्नेहभावेन चेद् द्रक्ष्येत् स्त्रियमेकदा।
कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः।।—काशी. पूर्वार्ध. 41/25-27

संन्यासी प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भर भी जहाँ-तहाँ से धन संग्रह करे तो उसे एक हज़ार गौओं के वध का पाप लगता है—यह सनातन श्रुति है। यदि एक बार भी वह हृदय में स्नेहभाव से (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्री को देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्म कल्पों तक कुम्भीपाक नरक में निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है। वेद शास्त्रों में ऐसा वर्णन नहीं है किसी की ऐसी मान्यता हो सकती है। संन्यासी का धर्म बहुत ही कठिन है और साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवाना, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करना और गृहस्थों की भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्ग का विस्तार करना महान् अनुचित है।

गृहस्थाश्रम व्यक्ति की अवस्था जब 50 वर्ष से अधिक हो जाये तो शास्त्र कहते हैं कि उसे गृहस्थाश्रम से पृथक् हो वन में जाकर वानप्रस्थाश्रम का सेवन करना चाहिये। स्त्री की इच्छा हो तो वह उसे भी अपने साथ रख सकता है, परन्तु दम्पति को सदा संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत से रहना चाहिये, वन में रहकर दोनों को तपस्या करनी चाहिये एवं अपने कल्याण के लिये शास्त्रानुकूल साधन करना चाहिये। स्त्री-पुरुष दोनों का ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक अपने बीच में किसी प्रकार का व्यवधान रखकर अलग-अलग भूमि पर सोना—आदि ये वानप्रस्थ- आश्रम धर्म बतलाये गये हैं। मनुस्मृति में लिखा है—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेध्वममश्चैव वृक्षमूलनिकतमः।। मनु. 6/26

शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे, किन्तु ब्रह्मचारी अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय चेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे अपने वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे।

उपर्युक्त वानप्रस्थ-आश्रम के धर्मों के पालन करना भी इस समय संन्यास-आश्रम की तरह बहुत ही कठिन है। इसलिये आजकल इस कलिकाल में वानप्रस्थ-आश्रम को ग्रहण न करके गृहस्थाश्रम से रहते हुए ही

जो उपर्युक्त प्रकार से निवृत्ति की ज्यों रहता है और प्रभुभक्ति करता है तो उसका निश्चय ही कल्याण हो सकता है, क्योंकि प्रभुप्राप्ति में मानव मात्र का अधिकार है। पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इसी प्रकार गृहस्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल—सभी प्रभु को प्राप्त कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। —9.32

हे अर्जुन! जो पूर्ण रूप से बुरे कर्मों से हट कर ईश्वर का आश्रय लेते हैं। वे पाप कमाई करने वाली वेश्या, मांस बिक्री करने वाले इन दुष्कर्मों को पूर्णतया छोड़ देने पर ईश्वर के पूर्ण आश्रय से तर जाते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रभु की भक्ति—शरणागति में, प्रभु की प्राप्ति में मानवमात्र का कल्याण है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। —9.33

जब वेश्या आदि भी रम गति पाते हैं, फिर ब्राह्मण और ब्राह्मणों में भी पुण्यात्मा ब्राह्मण इसी प्रकार राजर्षि में भी ईश्वर भक्त, राजर्षि उनका तो कहना ही क्या? इसलिये इस अनितय सुख देने वाले संसार में जन्म लेकर नित्य तथा आनन्दमय होने के लिये ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुसरण करें।

कर्मयोग में तीन भाग हैं, शुभ कर्मों का करना, अशुभ कर्मों को न करना यह कर्म योग की पहली सीढ़ी है। शुभ कर्म दो प्रकार के हैं। सकाम और निष्काम। निष्काम शुभ कर्म। अग्नि का अर्थ है लोकहित के कार्य करने का संकल्प।

इन शब्दों से उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इससे यह बात भी सिद्ध

हो गई कि गृहस्थाश्रम में, प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर भी मानव का प्रभु की भक्ति के प्रभाव से कल्याण हो सकता है । इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्ग में रहकर कर्मयोग से भी कल्याण हो सकता है ।

यदि कोई पूछे कि एक व्यापारी वैश्य अपनी दुकान का काम करता है तो उस भाई को किस प्रकार काम करना चाहिये । तो यह इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकार का व्यापार कर रहा है, उसमें परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है । वह गल्ला-किराना, कपड़ा-सूत, चाँदी-सोना अथवा घी, तेल, चीनी आदि किसी भी शास्त्रविहित वस्तु का व्यापार करता है, उसे ज्यों का त्यों करता रहे, उसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि वैश्य के लिये क्रय-विक्रय करना शासक का विधान है; परन्तु उसे वह व्यापार करना चाहिये—कर्त्तव्य समझकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए सत्यतापूर्वक निष्काम भाव से ।

महाभारत के शान्तिपर्व तथा पद्मपुराण के सृष्टिखंड में बतलाया गया है कि तुलाधार वैश्य मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं को छोड़कर सब प्रकार के रस बेचा करता था; परन्तु वह झूठ, कपट, विषमता और लोभ को त्यागकर व्यापार करता था । उसके सत्य व्यापार के प्रभाव से अन्तःकरण की शुद्धि होकर उसे प्रभुप्राप्ति हो गई ।

हम लोगों के व्यवहार में जो विषमता है, एक के साथ अच्छा और दूसरे के साथ बुरा व्यवहार है, वह न होकर सबके साथ समता का व्यवहार होना चाहिये और व्यापार में झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी आदि का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये । झूठ, कपट, बेईमानी, तथा दगाबाजी के व्यापार के मुक्ति तो दूर रही, उल्टे नरकों की प्राप्ति होती है । व्यापार में जो स्वार्थत्याग रूप निष्कामभाव है, वही आत्माकल्याण करने वाला एक महत्त्वपूर्ण साधन है । निष्काम भाव से इतनी शक्ति है कि उसके प्रभाव से झूठ, कपट, बेईमानी आदि सारे बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं । इसलिये

बुद्धिमान् व्यक्ति को निष्कामभाव से ही कर्म करना चाहिये। कर्मों में अभिमान, ममता, आसक्ति और फलकामना आदि का त्याग कर देना ही स्वार्थ का त्याग कर देना है; यही निष्कामभाव (कर्मयोग) है और यह निष्कामभाव ही मुक्ति देने वाला है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिकगच्छति।। —2.71

हे अर्जुन! गतिहीनता दो प्रकार की है। एक तमोगुण-जन्य जो श्मशान भूमि में मिलती है परन्तु गति शून्यता तो वह है कि मनुष्य अपनी सब भावनाओं और कामनाओं को प्रभु के अर्पण करके खूब गतिशील होता है।

निष्कामभाव के कई भेद हैं, उनमें भगवदर्थ कर्म करना उच्चकोटि निष्कामभाव है। जैसे कोई व्यापारी—वैश्य है तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि मेरी दुकान प्रभु की हैं और मैं भी प्रभु का हूँ तथा वे सब वस्तुएँ भी प्रभु की हैं। इस प्रकार सब वस्तुओं को प्रभु की समझकर और स्वयं प्रभु का सेवक बनकर काम करे तथा सदा निश्चितरूप से यही समझे कि मैं प्रभु का सेवक हूँ; सेवा करने के लिए मेरी यहाँ नियुक्ति हुई है। मुझे जो भोजन-वस्त्र मिलते हैं, बस, वही मेरा वेतन है। घर में जितने व्यक्ति हैं, वे सब प्रभु के हैं, उनकी सेवा करना भी प्रभुसेवा करना है। दुकान के काम के रूप में सेवा करते समय यह समझे कि प्रभु की दुकान प्राणिमात्र की सेवा के लिये है, क्योंकि विश्व के सभी प्राणी प्रभु की संतान हैं। इस प्रकार सबको प्रभु की संतान समझकर अपने व्यापार के द्वारा निःस्वार्थ भाव से सबका हित और सबकी सेवा करने से प्रभु बड़े ही प्रसन्न होते हैं और प्रभुप्राप्ति हो जाती है।

इससे भी उच्च कोटि का एक साधन है और उसको निष्कामभाव से करने पर और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। वह उच्चकोटि का साधन है—सबमें परमात्मा को व्यापक समझकर उन सबकी सेवा करना। जैसे बादलों में आकाश व्यापक है, इसी प्रकार परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त

है । यों समझकर सबकी सेवा के रूप में परमात्मा की सेवा करनी चाहिये । इस प्रकार सेवा करने से परम सिद्धि रूप परमात्मा की प्राप्ति होती है । श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। –18.46

यह श्लोक सम्पूर्ण गीता का सार है, ईश्वर उपासना का सर्वोत्तम साधन क्या है? ईश्वर पर पूर्ण भरोसा विश्वास होना, जिसका ईश्वर पर विश्वास होगा वह पाप कर्म कभी नहीं कर सकता । जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने वर्ग धर्म के अनुसार स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मानव परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है ।

सब में परमेश्वर व्यापक हैं – इससे भी ऊँचा भाव यह है कि सभी उसके स्वरूप हैं । इस प्रकार सबको उसका समझकर व्यापार के द्वारा सबकी सेवा करने से तो अत्यन्त शीघ्र आत्मा की शुद्धि होकर परम कल्याण की प्राप्ति हो सकती है ।

कोई भी व्यापारी हमारी दुकान पर आये तो उसे प्रभु की सन्तान समझकर अपने व्यापार के द्वारा उनकी आदर-सत्कारपूर्वक सेवा करनी चाहिये । हम किसी से कोई वस्तु खरीदे तो यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा उसकी अवश्य ही कुछ सेवा हो और हम किसी को कोई वस्तु बेचे तो उस खरीददार के प्रति हमारा यह भाव रहना चाहिये कि उसे सेवा भाव से वस्तु बेचे, न की अधिक लाभ कमाने के भाव से । अतः उनकी सेवा करना हमारा परम धर्म है और उसे छल-कपट रहित होकर वस्तु की असली स्वरूप स्थिति बतानी चाहिये, जिससे वह ठगा न जाये और उचित मूल्य पर उसे वह वस्तु देनी चाहिये ।

इसी प्रकार कोई भाई किसी ऐसी सार्वजनिक संस्था का काम करते हों, जहाँ वास्तव में व्यक्तिगत स्वार्थ न होने के कारण झूठ, कपट, प्रायः नहीं है तो वहाँ उन कार्यकर्ता भाई को कार्य में विशेष परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह कार्य स्वरूप से ही जनता की सेवा के लिये है और वहाँ स्वार्थ, झूठ, कपट और विषमता का भी कोई कारण नहीं है । परन्तु व्यक्तिगत राग-द्वेषयुक्त स्वभाव दोष के कारण यदि कहीं स्वार्थ, झूठ, कपट और विषमता का दोष आता हो तो उसका सुधार होना कठिन बात नहीं है, थोड़ी कोशिश करने पर ही सुधार हो सकता है ।

केवल बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि यह परमात्मा का ही काम है । यही तो सच्चा ईश्वर के प्रति सच्चा समर्पण होगा । फिर अपने-आप ही दोषों का अभाव हो सकता है । परन्तु बात तो दूसरी है । हम लोग वाणी से तो कहते हैं कि यह परमात्मा का काम है, परन्तु वास्तव में यह बात अभी अच्छी तरह से हम लोगों की समझ में आई नहीं है । निश्चित रूप से समझ में आई होती तो हम चेष्टामात्र को प्रभु की लीला और प्राणीमात्र को परमात्मा का स्वरूप समझते और प्रत्येक कार्य में परमात्मा की सेवा का अनुभव होते रहने से कार्य करते समय क्षण-क्षण में हमारे चित्त में अतिशय प्रसन्नता और शान्ति का सागर लहराता रहता । सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिये कि हम परमात्मा की आज्ञा के अनुसार परमात्मा की ही सामग्रियों के द्वारा जनता की सेवा कर रहे हैं ।

सारे कार्य यदि ठीक-ठीक हो रहे हों तो उनमें बाहरी सुधार की बहुत ही कम आवश्यकता रहती है । अधिक बिगड़ा हुआ कार्य का तो उसमें अधिक सुधार करना पड़ता है और कम बिगड़ा हुआ हो तो थोड़े प्रयत्न से ही उसका सुधार सम्भव हैं जिस सार्वजनिक संस्था में किसी प्रकार की चोरी, बेईमानी नहीं की जाती, उसके कार्य के सुधार में कोई कठिनाई नहीं है । फिर भी यत्किंचित् कहीं शास्त्र के विरुद्ध क्रिया होती हो तो उसका शीघ्र सुधार कर लेना उचित है । वस्तुतः हम सबमें भगवद्बुद्धि करें, क्योंकि उच्चकोटि के

महापुरुषों की स्थिति बतलाते हुए स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

बहूनां जन्मनामन्ते शानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। –7.19

हे अर्जुन ! देखो जिधर मैं जाता हूँ, कृष्ण वासुदेव का पुत्र है । किन्तु यह तो भारी भूल है, घर-घर में बसने वाला तो प्रभु ही वासुदेव है और यह सारा ब्रह्माण्ड ही उसकी सन्तान है । वह ज्ञानवान् जन्म-जन्मान्तर की साध पश्चात् इस अवस्था पर पहुँचता है ।

अतएव सबको परमात्मा की सन्तान समझकर निःस्वार्थ प्रेम-भाव से उनकी सेवा करनी चाहिये । एवं हर समय प्रभु का चिन्तन करते हुए परमात्मा की आज्ञा के अनुसार ही सब कार्य करने चाहिये, क्योंकि परमात्मा की आज्ञा का पालन करने वाला ही उनका सच्चा प्रेमी भक्त है । रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में अपनी प्रजा के प्रति उपदेश देते समय स्वयं श्रीराम ने यह बात कही है–

सो सेवक प्रियतमम मम सोई । मम अनुसासन मानह जोई ।।

वही मेरा सेवक है, वही मेरा प्रियतम है जो मेरी आज्ञा का पालन करता है ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना भक्त और सखा बतलाया, क्योंकि अर्जुन का दास्यभाव भी था और सख्यभाव भी । अर्जुन के कथन का तात्पर्य यह है कि वही ईश्वर का सच्चा भक्त, वही मेरा सखा और वही मेरा प्रेमी है, जो मेरी आज्ञा का पालन करता है । अर्जुन श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करने वाला परम भक्त था, इसलिये गीता का उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन से पूछा कि अर्जुन ! तेरे मोह का नाश हुआ या नहीं, मैंने तुझसे जो कुछ कहा, उसको तूने ध्यान देकर सुना या नहीं ! अर्जुन ने उत्तर में कहा–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। –18.73

हे श्रीकृष्ण ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

अर्जुन श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी थे, अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर ही संसार के कल्याण के लिये गीता का उपदेश किया और अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण की आज्ञा के अनुसार ही अपना जीवन बिताया । अतः अर्जुन को आदर्श मानकर हम लोगों को भी श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करना चाहिये । यदि कहें कि उस समय तो श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष थे, इसलिये उनकी आज्ञा का पालन सुगम था, इस समय तो वे समक्ष नहीं हैं, इसलिए हम श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन कैसे करें ? तो यह बात अपने भाव के ऊपर निर्भर करती है । हमको प्रत्येक काम में परमात्मा से पूछना चाहिये कि हे प्रभु ! इसमें आपकी क्या सम्मति है ? तो सबके हृदय में स्थित हुए प्रभु हमारे हृदय में स्वयं न्याययुक्त प्रेरणा कर सकते हैं कि हमारी यह सम्मति है ।

परमात्मा तीन प्रकार से अपनी आज्ञा का प्रयोग करते हैं—(1) महात्मा पुरुषों के द्वारा, (2) सत् शात्रों के द्वारा और (3) साधक के शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा । इसलिये महात्मा पुरुषों की आज्ञा के अनुसार चलना ईश्वर की आज्ञा के अनुसार चलना है, क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण ने 18वें श्लोक में कहा है कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' । अतः हम लोगों के लिये कोई कठिनाई नहीं है । यद्यपि संसार में ऐसे महापुरुषों का मिलना कठिन है, क्योंकि लाखों करोड़ों में से कोई एक ही ऐसा महापुरुष होता है । श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। —गीता 7/3

हे अर्जुन ! दुर्योधन, कंस, शिशुपाल, जरासंध जैसे हज़ारों व्यक्ति मुझ

से द्वेष करते हैं । मैं धर्म स्थापना रूप जिस महान् उद्देश्य को लेकर आया हूँ, उसे कुछ ही लोग समझते हैं । वे मुझ में आसक्ति रखने लगते हैं, परन्तु मैं तो उस प्रभु की प्रेरणा से ही कर रहा हूँ । जिन्होंने केवल मेरे को जाना उन्होंने कुछ नहीं जाना, उस प्रभु को तो सहस्रों में एक ही सिद्ध कर पाता है ।

इसलिए हम लोगों को यह समझना चाहिये कि जिस पुरुष के द्वारा हमको सत्-शिक्षा मिले, जिस पुरुष की बात सुनकर हमें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त तथा ईश्वर प्राप्त पुरुषों के लक्षणों का प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये वही महात्मा है । यदि एक मनुष्य साधक है, परन्तु उसमें उत्तम-उत्तम गुण-आचरण विद्यमान हैं, परमात्मा की प्राप्ति के साधन में संलग्न है तथा साधकों में श्रेष्ठ है, तो उसमें हमारा लाभ ही है । ऐसा साधक महात्मा के तुल्य ही है, क्योंकि गीता में साधक को भी गौणवृत्ति से महात्मा ही बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाधिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। —9.13

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन ईश्वर को सब भूतों का सनातन कारण और नाश रहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।

अतः हमारे लिये कोई कठिनता नहीं है । संसार में वास्तविक महात्माओं का अभाव नहीं है । जो सच्चे हृदय से महात्मा को चाहता है, उसे भगवत्कृपा से महात्मा मिल जाते हैं । हमारे हृदय में श्रद्धा होनी चाहिये । शास्त्रों के वचन प्रभु के ही वचन हैं । इसलिये शास्त्र की आज्ञा प्रभु की ही आज्ञा माननी चाहिये । वेद शास्त्र, उपनिषद् आदि जितने भी आर्षग्रन्थ हैं, वे वास्तव में प्रभु की आज्ञा है और ऋषि-मुनियों ने जो कुछ कहा है, सब वेदों के आधार पर ही कहा है; इसलिये उनके वचन भी वेद शास्त्रों के ही वचन हैं ।

इसके अतिरिक्त हमें यदि यह विश्वास हो कि ईश्वर सदा-सर्वदा हमारे

हृदय में विराजमान हो रहे हैं, तो प्रत्येक पाप कर्म को न करने की प्रेरणा के द्वारा आदेश देते हैं कि पाप कर्म है मत करो। आत्मा में कम्पन होता है और चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है।

वस्तुतः हम लोगों को परमात्मा की आज्ञा के अनुसार चलना चाहिये। अर्जुन को उपदेश दिया, कि परमात्मा तो सदा-सर्वदा ही सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ परमात्मा न हों और ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें परमात्मा न हों; परमात्मा सब देश में, सब काल में और सब पदार्थों में सदा ही विराजमान होकर रहते हैं। अतः जिसमें विश्वास और श्रद्धा है, उसके लिये परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह वर्तमान है। इस बात को ध्यान में रखकर हमको परमात्मा की आज्ञा का पालन करना चाहिये।

निःस्वार्थ भाव से संसार भर की सेवा करना ही परमात्मा की मुख्य आज्ञा है, क्योंकि चर और अचररूप सारा संसार परमात्मा का ही स्वरूप है, परमात्मा के सिवाय और कोई वस्तु नहीं है तथा परमात्मा ही इस संसार के रचने वाले हैं, इसीलिये परमात्मा ही इसके अभिन्न उपादान और निमित्त कारण हैं, अतएव यह संसार परमात्मा की ही रचना है—इस प्रकार समझकर जो संसार की सेवा करता है, वह परमात्मा की ही सेवा करता है। जिसका उपर्युक्त प्रकार से सबमें भगवद्भाव हो जाता है, उसके लिये सबकी सेवारूप साधन बहुत ही सुगम है। अतः निष्काम भाव से सबकी सेवा करके मनुष्य जन्म को सफल बनाना चाहिये।

हम लोगों पर प्रभु की बड़ी ही दया है, जो हमें इस समय सब प्रकार की सुविधा प्राप्त है। प्रथम तो मानव का शरीर मिलना दुर्लभ है, मानव का शरीर मिल जाये तो मुक्ति के केन्द्र भारतवर्ष में जन्म होना कठिन है, भारतवर्ष में जन्म होने पर भी वैदिक धर्म में निष्ठा होनी बहुत ही दुर्लभ है और यदि वैदिक धर्म से निष्ठा हो गई तो शास्त्रों का ज्ञान होना कठिन है एवं शास्त्रों का कुछ ज्ञान हो जाने पर भी महात्मा पुरुषों का संग मिलना बहुत ही दुर्लभ है।

ये सारी बातें मिलकर भी यदि हम साधना न करने के कारण प्रभु की प्राप्ति से वंचित रह जायें तो हमारे समान संसार में और कौन मूर्ख होगा। ये सब बातें ध्यान में रखकर शीघ्रातिशीघ्र मानव जीवन को सफल बनाना चाहिये, क्योंकि शरीर का क्षण भर का भी भरोसा नहीं है। आज यदि मृत्यु आकर प्राप्त हो जाये तो हमें आज ही मरना पड़ेगा। एक क्षण का भी समय किसी हालत में भी नहीं बढ़ सकता। ऐसी परिस्थिति में हमको धोखे में नहीं रहना चाहिये। समय को अमूल्य समझकर हर समय प्रभु को स्मरण रखते हुए प्रभु की आज्ञा के अनुसार कर्मों के आचरण करना चाहिये। यही गीतोपदेश है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। –8.7

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय में मुझको अनुसरणार्थ निरन्तर स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें गुरुभाव से अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निस्संदेह निष्काम-व्रत-परायण अवस्था को ही प्राप्त होगा।

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये श्रीकृष्ण ने कहा कि तू सब समय में मुझको अनुसरणार्थ स्मरण रखता हुआ युद्ध कर। इसी प्रकार वैश्य के लिये कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य और शूद्र के लिये सेवा करना बताया है और कहा है कि अपने-अपने पुण्य कर्मों के द्वारा जो सेवा पूजा करता है, वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस भाव को ध्यान में रखकर हम लोगों को अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार निष्काम भाव से परमात्मा की उपासना करनी चाहिये।

उपर्युक्त श्लोक में जो श्रीकृष्ण ने यह कहा है कि मेरा अनुसरण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह ईश्वर को ही प्राप्त होगा–इसका यह अभिप्राय है कि परमात्मा है–इस भाव का बुद्धि में हर समय निश्चय

रखना—यह बुद्धि का परमात्मा में समर्पण है और बुद्धि के निश्चय के अनुसार ही परमात्मा का हर समय मन से चिन्तन करना—यह मन को परमात्मा के अर्पण करना हैं ऐसा करने से निःसन्देह परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है ।

निःसंदेह ईश्वर को ही प्राप्त होगा—इस कथन का यह अभिप्राय है कि यहाँ इस शंका की गुंजाइश थी कि सब काम धंधों को छोड़कर और एकान्त में बैठकर भगवान् का भजन-ध्यान करने से मुक्ति हो जाती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है, किन्तु सदा काम करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है? इस शंका की निवृत्ति के लिये श्रीकृष्ण ने यह कहा कि युद्धादि कर्म करते हुए भी मन-बुद्धि ईश्वर में समर्पित रहने से निःसंदेह सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है । अतः गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्ययाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। —18.56

और कुछ नहीं तो यदि कोई अपने सब कर्म मुझे लक्ष्य बना कर अर्थात् जैसे जिस परिस्थिति में श्रीकृष्ण ने किया था, वैसा मैं भी करूं, यह सोच कर कर्म करता है वह मेरे सहारे से परमपद को पा जाता है जो प्रभु भक्तों का भाग्यधेय है ।

सब प्रकार से परमात्मा की शरण होकर सदा-सर्वदा कर्म करने का अभिप्राय यह है कि कार्य करते हुए मन में सदा यह भाव रहे—मैं जो काम करता हूँ, वह परमात्मा के नियमानुसार काम है । पदार्थमात्र सब परमात्मा के स्वरूप है और उन सबकी जो चेष्टा हो रही है, वह सब परमात्मा की लीला है । मैं परमात्मा का सेवक हूँ, परमात्मा मेरे खामी है । उन खामी की मैं इस रूप में सेवा कर रहा हूँ । परमात्मा की मुझपर बड़ी दया है । इस प्रकार निष्काम भाव से सबकी सेवा होने लगेगी, तब हमारे चित्त में राग, द्वेष, हर्ष, शोक, स्वार्थ और अभिमान आदि विकार नहीं होंगे ।

जैसे कोई मुनीम किसी मालिक के यहाँ काम करता है और उस मालिक का लाभ या हानि होता है तो वह उस मालिक का ही है, मुनीम का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो एक निमित्तमात्र है, इसी प्रकार हम अपने को निमित्त मात्र समझें और लाभ या हानि कर्म करने वाले का होता है। परमात्मा की आज्ञानुसार जो काम किया जाता है, वह बहुत उच्च कोटि का काम होता है। जब तक व्यक्ति किसी काम को व्यक्तिगत निजी काम समझकर करता है, तभी तक उसमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं। परोपकार का काम समझ कर करने पर ये विकार नहीं होते और इस प्रकार करने वाला पुरुष प्रभु को प्राप्त हो जाता है।

अतः काम चाहे अपना व्यक्तिगत हो या किसी संस्था का, उसे परोपकार भावना का समझकर करना चाहिये। किसी संस्था में चाहे वेतन लेकर काम करते हों या बिना वेतन लिये, नीयत शुद्ध होनी चाहिये, फिर दोनों के लिये सिद्धान्त से कोई भेद नहीं हैं वास्तव में यदि किसी के पास धन-सम्पत्ति न हो तो उस स्थिति में वह संस्था में काम करके प्रसाद के रूप में शरीर-निर्वाह मात्र के लिये कुछ लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि वह उसके लिये गौरव की बात है। क्योंकि वास्तव में जगत् में जो कुछ है, वह सब परमात्मा का ही है। हम परमात्मा का दिया ही खाते हैं, क्योंकि प्रकृति में सब पदार्थ ईश्वर ने ही उत्पन्न किये हैं।

इसलिये हमको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो कुछ है, सब परमात्मा की देन ही है तथा मैं भी परमात्मा का हूँ एवं सम्पूर्ण चराचर जगत् का अधिष्ठाता परमात्मा ही है। इस प्रकार समझ कर हँसते-हँसते सबकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिये। सेवा करने के काल में समय-समय पर हमारे हृदय में हर्ष होता है। उस सेवा करने के समय हमारे चित्त में कितनी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। इसी प्रकार की प्रसन्नता, शान्ति और

आनन्द हमको उस समय मिल सकता है, जब हमारी वास्तव में यह श्रद्धा हो जाये कि सब निस्वार्थ सेवा भाव से किया है ।

जब हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायेगा कि निष्काम सेवा करने पर परमात्मा की दया से हमें परमात्मा की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है । यह बड़ा ही उच्च कोटि का साधन है । हमें इस साधन को करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये । इस प्रकार व्यक्ति प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए भी उपर्युक्त भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग के साधन के द्वारा सुगमतापूर्वक ही प्रभुप्राप्ति कर सकता है ।

12. परमेश्वर के लिये काम कैसे किया जाये?

प्रश्न प्रसन्नतापूर्वक परमेश्वर को याद रखते हुए किसी से भी राग-द्वेष न करके अपने कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार किया जा सकता है?

उत्तर परमेश्वर सब कुछ देख रहा है इसे सदा ध्यान में रखना चाहिये। इसे ध्यान में रखते हुए प्रत्येक कार्य को अपना कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिये। कार्य करते समय किसी से राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

उनका रहस्य कौन जान सकता है? ईश्वर सर्वव्यापक है। प्रभु सब जगह विराजमान हैं परन्तु वह दिखाई नहीं देता क्योंकि वह निराकार है जैसे तिलों में तेल है। तिलों को पीसने से ही तेल निकलता है और दिखाई देता है। वायु दिखाई नहीं देता परन्तु स्पर्श से हवा का अनुभव होता है। ठीक इसी तरह ईश्वर का ध्यान करने से उसकी व्यापकता का ज्ञान होता है। उसके अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, उनको पूर्ण रूप से जानना व वर्णन करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। वह व्यक्ति की पहुँच से बाहर है। ऋषि, महर्षियों ने योगसाधना उसे अपने आत्मा में जाना है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है और सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी वह अपने सामर्थ्य से करता है।

साधारण जीव में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभु के गुण कर्म स्वभाव को जान सके। योग साधना के बिना उसे नहीं जाना जा सकता। इसके लिये ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। समाधि की सिद्धि हो जाने पर ईश्वर का साक्षात होता है। इसलिये ईश्वर की दया पर दृढ़ विश्वास करना चाहिये। सब कार्य सोच विचार कर ईश्वर की आज्ञानुसार ही करना चाहिये उसमें कोई आलस्य नहीं करना चाहिये।

परमात्मा को कैसे जानें?

जो मनुष्य पूर्ण परमात्मा को जानता है, उस मनुष्य में दिव्य दृष्टि और आत्मबल सदा बना रहता हैं जब तक वह पुरुषार्थ करता रहता है। परमेश्वर

का न तो कोई आदि और अन्त है और वह अपनी सम्पूर्ण रचना में परिपूर्ण हो रहा है। इसलिये परमात्मा को जानना चाहते हो तो पहले जीवात्मा अर्थात् (स्वयं को) जानें जीवात्मा का ज्ञान हो जाने पर परमात्मा का ज्ञान स्वतः ही हो जायेगा।

परमेश्वर के सामर्थ्य से नियम, धारण, वेदशास्त्र आदि सब पदार्थ स्थित हैं। जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश दृढ़ स्थापित हैं। परमात्मा ने मनुष्य को पराक्रम, बुद्धि इसलिये दिये हैं कि मनुष्य सबसे यथावत उपकार लेकर आगे बढ़े।

अज्ञानी पुरुष मूढ़बुद्धि होकर शरीर आत्मा को अलग-अलग नहीं जानता। जब वह वेद द्वारा विद्या प्राप्त करता है, तब शरीर, आत्मा और पर ब्रह्म परमात्मा को जान लेता है।

13. कर्मयोगरहस्य

कर्मयोगरहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो परमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं, जिन्होंने कर्मयोग द्वारा परमेश्वर को प्राप्त कर लिया है। मुझ जैसे व्यक्ति के लिये तो इस रहस्य का व्यक्त करना अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि कर्मयोगरहस्य को वास्तव में मैं अच्छी प्रकार नहीं जानता। इसके अतिरिक्त यत्किंचित् जितना कुछ जानता हूँ उतना कह नहीं सकता और जितना कहता हूँ उतना स्वयं काम में नहीं ला सकता, तथापि अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार कर्मयोगरहस्य का कुछ अंश प्रश्नोत्तर के रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करता हूँ। श्रीकृष्ण कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। —गीता 2.40

इस कर्त्तव्य पालन के सीधे सरल मार्ग में प्रक्रिया क्रम-भंग का भय नहीं। पग-पग पर प्रत्यवाय और प्रायश्चित का पचड़ा नहीं। इस यज्ञ-धर्म का थोड़ा सा भाग भी महान् भय से रक्षा करता है।

प्रश्न 1 निष्कामकर्मयोग के आरम्भ का नाश नहीं होता, इसका क्या अभिप्राय है? क्या एक बार आरम्भ होने पर यह चालू ही रहता है, या जितना बन गया, उसका नाश नहीं होता।

उत्तर पूर्वसंचित पाप, अहंता-ममता और आसक्ति आदि अवगुणों के कारण तथा विषय-भोगों का एवं प्रमादी-विषयी पुरुषों का संग होने से मार्ग में रुकावट तो हो जाती है, परन्तु निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का जितना पालन हो जाता है उसका नाश नहीं होता; क्योंकि फल और आसक्ति को त्याग कर भगवदाज्ञानुसार समत्व भाव से किये हुए साधन के नाश होने का कोई भी कारण नहीं है। फल की इच्छा से किया हुआ कर्म ही फल को देकर समाप्त होता है।

प्रश्न 2 प्रत्यवाय उल्टे फल रूप दोष का भागी नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर यह मानना भ्रान्ति एवं बड़ी भारी भूल है, प्रत्यवाय अथवा प्रायश्चित करने से पाप का फल खत्म नहीं होता, फल तो भोगना पड़ेगा परन्तु पाप का प्रायश्चित करने से वह भविष्य में पाप कर्म करने से बच जायेगा।

प्रश्न 3 कोई-कोई प्रत्यवाय शब्द का विघ्न अर्थ करते हैं, क्या यह भी बन सकता है?

उत्तर विघ्न अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। निष्काम कर्मयोग रूप धर्म के पालन में विघ्न बाधा तो आ सकती है, किन्तु उसका परिणाम बुरा नहीं होता, अच्छा ही होता है क्योंकि कल्याण मार्ग पर चलने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न 4 इस निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा भी पालन महान् भय से कैसे उद्धार करता है?

उत्तर निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा भी पालन संस्कार के बल से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर अन्त में साधक को मुक्त कर देता है।

प्रश्न 5 जब कि यह निष्काम कर्मयोग का थोड़ा साधन वृद्धि को प्राप्त होकर ही महान् भय से उद्धार करता है तब फिर थोड़े का कया महत्त्व रहा।

उत्तर निष्कामभाव का परिणाम संसार से उद्धार करना है। अतः वह अपने परिणाम को सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्त में साधक को पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है, यही इसका महत्त्व है।

प्रश्न 6 जो लोग धार्मिक संस्थाओं में स्वार्थ त्याग कर बिना वेतन लिये या स्वल्प वेतन लेकर तन-मन से काम करने वाले हैं, उनका कर्म स्वार्थरहित होने के कारण उसे तो निष्काम कर्मयोग ही मानना चाहिये, परन्तु निष्काम कर्मयोग के पालन करने से जितना लाभ बतलाया जाता है उतना लाभ देखने में नहीं आता, इसका क्या कारण है ?

उत्तर निष्काम भाव से किये गये कर्म का जितना लाभ अथवा उसका फल ईश्वर अवश्य देता है, क्योंकि वह न्यायकारी है, वह सदैव एक रस रहता है सबको पाप-पुण्य का यथा योग्य फल देता है, न उससे कम न अधिक । ईश्वर न किसी से नाराज होता है और न ही किसी से खुश होता है फिर कर्म फल देने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता । परन्तु निष्काम कर्म योग के साधन का जितना लाभ गीतादि शास्त्रों में बतलाया गया है, उसने अनुसार लाभ अवश्यमेव मिलता है ।

प्रश्न 7 निष्काम कर्म योग के अनुसार क्या इन लोगों का थोड़ा भी साधन नहीं होता ?

उत्तर जो जितना त्याग करता है उतने अंश में उसका साधन अवश्य होता है तथा लाभ भी उसके अनुसार उसे अवश्य ही मिलना चाहिये ।

प्रश्न 8 जब कि कर्मयोग का थोड़ा भी साधन महान् भय से तार देता है तो फिर अधिक न भी हो तो क्या आपत्ति है, क्योंकि उद्धार तो उस का हो ही जायेगा ।

उत्तर धर्मानुसार जो कर्म किये जाते हैं, उनमें भय नहीं होता, भय पाप कर्मों से होता है । पाप कर्म को त्यागने पर ही दूर होगा ।

प्रश्न 9 कर्मयोग के थोड़े साधन से यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर प्रथम तो कर्मयोग का स्वरूप समझना चाहिये । शास्त्रविहित उत्तम क्रिया का नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थ के सर्वथा त्यागपूर्वक समत्व-भाव का पानी निष्काम भाव का नाम योग है ।

यह निष्काम भाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है । इसलिये जिस कर्म में निष्काम भाव है, उसी की 'कर्मयोग' संज्ञा है । जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओं में निष्काम भाव नहीं है उनकी कर्म संज्ञा है, परन्तु कर्मयोग नहीं । इसलिये सकाम भाव से आजीवन किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे अनेक कर्म भी क्षणभंगुर फल देने वाले होने के कारण महत्त्व के नहीं हैं, परन्तु निष्काम भाव से किये हुए शास्त्रविहित कृषि, वाणिज्य, नौकरी और शिल्पक्रिया आदि साधारण कर्म भी परम कल्याणदायक होने के कारण महान् है ।

प्रश्न 10 निष्काम कर्मयोग का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाइये ।

उत्तर निष्काम कर्म वह है जो निस्वार्थ भाव अथवा बिना किसी लाभ प्राप्ति के लिये दूसरों के परोपकारार्थ किया जाये ।

प्रश्न 11 कर्मों के फल के त्याग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर कर्मों का फल ईश्वर देता है, जीव केवल कर्म करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में परतन्त्र अर्थात् कर्मफल ईश्वर के अधीन हे फिर जीव कर्मफल का त्याग कैसे कर सकता है ?

प्रश्न 12 आसक्ति का त्याग किसे कहते हैं ?

उत्तर मन और इन्द्रियों के अनुकूल सांसारिक सुखदायक प्राणियों, पदार्थों और कर्मों में चित्त को आकर्षण करने वाली जो स्नेह-रूपा वृत्ति है, राग रस संग आदि जिसके नाम हैं उसके सर्वथा त्याग का नाम आसक्ति त्याग है । चित चलायमान है चित्त की वृतियों को रोकने से आसक्ति का त्याग किया जा सकता है ।

प्रश्न 13 ईश्वर आज्ञा से यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर वेद, श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र तथा महापुरुषों की आज्ञा ही ईश्वर का पालन करना है ।

प्रश्न 14 समत्वबुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में सदा-सर्वदा सम रहना समत्व बुद्धि हैं

प्रश्न 15 समर्पण और ईश्वर को समर्पण कर्म में क्या भेद है ?

उत्तर समर्पण किसी कार्य को पूर्ण करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देना और ईश्वर समर्पण सब कुछ तन, मन, धन ईश्वर को समर्पण करना । हे प्रभु ! यह सब आपका ही है । इसमें मेरा कुछ भी नहीं है । इस प्रकार दोनों के अन्तर को समझा जा सकता है ।

प्रश्न 16 क्या निष्काम कर्म योग का यह साधन कष्ट साध्य है ?

उत्तर वास्तव में कष्ट साध्य नहीं है । हाँ, जो कष्टसाध्य मानते हैं उनके लिये कष्ट साध्य है और जो सुख साध्य मानते हैं उनके लिये सुख साध्य है ।

प्रश्न 17 यदि ऐसा है तो साधक को सुख साध्य ही मानता चाहिये; परन्तु जो कंचन, कामिनी, कुटुम्ब और शरीर के आराम को छोड़कर साधन करते हैं उनको भी यह कष्ट साध्य क्यों प्रतीत होता है ?

उत्तर मन की चंचलता तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि की इच्छा एवं राग, द्वेष, ममता, अहंकार, अज्ञान आदि दोषों के कारण तथा श्रद्धा और प्रेम की कमी एवं इसके रहस्य और प्रभाव को न जानने के कारण यह कष्ट साध्य प्रतीत हो सकता है ।

प्रश्न 18 इस साधन में रुकावट डालने वाले दोषों में विशेष दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर श्रद्धा और प्रेम की कमी, मान और बड़ाई की इच्छा, मन की चंचलता, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, आसिक्त और अहंकार प्रभृत्ति विशेष दोष है ।

प्रश्न 19 इन सबके नाश के लिये साधक को क्या करना चाहिये ।

उत्तर विवेक और वैराग्य द्वारा सारे विषय भोगों से मन को हटाकर प्रभु की शरण रहते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम कर्म योग के

साधन के लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार चेष्टा करने से सम्पूर्ण दुःख और दोषों का नाश होकर परम आनन्द और परम शान्ति की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

प्रश्न 20 प्रभाव और रहस्य को तत्त्व से जानने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर इसके प्रभाव और रहस्य को बतलाने वाले गीतादि ग्रंथों का मनन एवं इसके तत्त्व को जानने वाले महापुरुषों का संग करके उनके बतलाये हुए मार्ग के अनुसार कटिबद्ध होकर चेष्टा करने से इसके प्रभाव और रहस्य को मनुष्य तत्त्व से जान सकता है । जो इस निष्काम कर्मयोग के रहस्य और प्रभाव को तत्त्व से जान जाता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता । तथा साधन करते-करते अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषों से मुक्त हो जाता है और उसका सारे संसार में भी सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है । इस प्रकार जिस की समता में निश्चल स्थिर स्थिति है उसकी प्रभु में ही स्थिति है; क्योंकि प्रभु सम है । इसलिये वह सारे दुःख पाप और क्लेशों से छूटकर परम आनन्द और परम शान्तिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । ऐसी स्थिति जिसकी अन्तकाल में भी हो जाती है, वह भी जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूटकर विज्ञानानन्दघन प्रभु को प्राप्त हो जाता है ।

14. कर्म और कर्मफल

प्रश्न 1 जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर दोनों चेतनस्वरूप है, स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द जीवात्मा को भी ईश्वर के समान पवित्र मान रहे हैं जैसा कि सांख्य दर्शन में न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते (1/19) में आत्मा को शुद्ध, मुक्त स्वभाव कहा है। ईश्वर ने अपने ज्ञान वेद का प्रकाश चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा की आत्मा में ही किया। यदि सृष्टि के आदि में ईश्वर वेद ज्ञान न देते तो सब अज्ञानी रह जाते।

प्रश्न 2 आत्मा को प्रिय लगने वाला कार्य ही धर्म क्यों माना गया?

उत्तर इसलिए क्योंकि आत्मा पवित्र और सत्य असत्य को जानने वाला है और परमात्मा सब के हृदयाकाश में विद्यमान है। परमात्मा का पवित्र आत्मा में ही मिलन हो सकता है। बुरे काम में प्रवृत्त होने पर आत्मा में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होता है तथा अच्छे कार्यों में प्रवृत्त होने पर निर्भयता, निशंकता और आनन्दोत्साह उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्मा की वह प्रेरणा ईश्वर प्रसूत होती है। अतः उस ईश्वर प्रसूत आत्मा की प्रियता को धर्म कहा गया है।

प्रश्न 3 क्या ईश्वर अपनी यह शिक्षा प्रत्येक आत्मा को देता है?

उत्तर हाँ। सबको देता है क्योंकि ईश्वर में पक्षपात नहीं घटता इसलिए वह निष्पक्ष होकर जो भी धर्म-अधर्म को जानना चाहता है उसको इस रूप में जना देता है।

प्रश्न 4 ईश्वर सबकी आत्मा को शिक्षा देता है फिर सब जीव उसकी शिक्षा को मानकर धर्मात्मा क्यों नहीं हो जाते?

उत्तर ईश्वर का काम केवल धर्म-अधर्म की शिक्षा लज्जा, भय और उत्साह आदि के रूप में देना ही है किन्तु उसे मानना या न मानना अथवा उसको सुनना या न सुनना यह जीवात्मा के अधीन है क्योंकि अपने कर्म करने में जीव स्वतंत्र होता है और जन्म-जन्मान्तरों में किए शुभ-अशुभ कर्मों का भोग भोगने में वह ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र होता है इसलिए केवल वे ही उसकी शिक्षा को सुनने और मानने के लिये तैयार होते हैं जिनके पुण्य कर्मों का फल सुख मिलना आरम्भ होता है। इस प्रकार यह जीवात्मा का अपना दोष है इसमें ईश्वर में पक्षपातादि दोषों का लगाना अज्ञानता है। जैसे कक्षा में एक अध्यापक कक्षा में बैठे सारे विद्यार्थियों को समान शिक्षा देता है परन्तु यह प्रत्येक विद्यार्थी की बौद्धिक क्षमता पर निर्भर करता है कि वह कितनी शिक्षा ग्रहण करें और कितनी न ग्रहण करे।

इस विषय में दूसरे इस प्रकार से विचार करना चाहिए कि आत्मा को जो कर्मफल भोगने पड़ते हैं वे सुख और दुःख इन दो प्रकार की अनुभूतियों के रूप में होते हैं। इनमें सुख और दुःख के विषय में शास्त्रकार बताते हैं कि आत्मा के अनुकूल भोग को सुख और आत्मा के प्रतिकूल भोग को दुःख कहते हैं। और कारण कार्य अनुक्रम में देखा जाये तो पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। इस रूप में आत्मा के अनुकूल भोग का कारण आत्मा के अनुकूल कर्म होना चाहिये और प्रतिकूल भोग का कारण प्रतिकूल कर्म होना चाहिए। अतः आत्मा के अनुकूल कर्म को पुण्य और आत्मा के प्रतिकूल कर्म को पाप कहना युक्तिसंगत एवं स्वतः सिद्ध है।

प्रश्न 5 जैसे हम भोजन करते हैं तो हमारी भूख शांत हो जाती है और भोजन के स्वाद का भी स्वयं ही अनुभव हो जाता है। ऐसे ही

जीवात्मा के कर्म में ही उसका भोग भी निहित होता है इसलिए कर्म को ही फल प्रदाता मानना उचित है और कर्म जीव करता है इसलिए कर्मों के जीवाश्रित होने से इनका फल जीवाश्रित होना युक्ति से सिद्ध है ।

उत्तर यह युक्ति उचित नहीं है क्योंकि प्राणियों के शरीर का निर्माण जीव द्वारा नहीं किया जाता वरन् यह परमात्मा की रचना है और उसी के द्वारा सारे शारीरिक नियमों का स्थापन किया जाता है । जीवात्मा तो मात्र शरीर का अधिष्ठाता या संचालक है जो ईश्वर द्वारा स्थापित नियमों में रहकर ही इसका संचालन करता है । इस रूप में शरीर में भूख-प्यास आदि की तृप्ति भोजन और जल द्वारा होती है यह ईश्वर की व्यवस्था है । जीव तो मात्र इस व्यवस्था का अनुपालन करने वाला है ।

इसीलिए भूख की अनुभूति होने पर भोजन करना जीव के वश में होता है । यदि मनुष्य के हाथ में होता तो वह भूख लगने ही न देता और बिना भोजन के ही भूख को शांत कर देता । परन्तु ऐसा नहीं है । इससे यही सिद्ध हुआ कि जीव ईश्वरीय व्यवस्था में ही कर्म का भोग करता है क्योंकि भूख लगने पर जिन पदार्थों को वह खाता है वे भी परमात्मा के ही दिए हुए हैं और उनके द्वारा विशेष स्वादों या रसों का व्यवस्थापन भी ईश्वर का किया हुआ है ।

प्रश्न 6 यदि ईश्वर की व्यवस्था में असावधानी हुई तब तो उस असावधानी करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगना चाहिये ।

उत्तर नहीं, ईश्वर की व्यवस्था में कोई असावधानी नहीं होती । ईश्वर के सब कार्य निरन्तर बिना किसी रुकावट के चलते रहते हैं । असावधानी मनुष्य कर सकता है, ईश्वर नहीं । क्या कभी सूर्य पूर्व

की अपेक्षा पश्चिम में उदय हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं ।

प्रश्न 7 लोक में तो किसी के कर्मों का फल किसी दूसरे को मिलता हुआ देखते हैं जैसे एक व्यक्ति जो समाज सेवा करता है उसका समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सुख मिलता है। फिर वह न्यायोचित क्यों नहीं ?

उत्तर लोक में अनेक प्रवृत्तियों के लोग रहते हैं जिनमें कुछ देव प्रकृति के होते हैं जिनका स्वभाव होता है दूसरों की भलाई के लिए प्रयास करना और कुछ आसुरी वृत्ति के होते हैं जिनका स्वभाव होता है दूसरों को कष्ट पहुँचाने का प्रयास करना, ये दोनों प्रकार के लोग अपना-अपना प्रयास तो करते हैं परन्तु देवजनों के प्रयास में सब दुःखी नहीं होते । इससे यह स्पष्ट हुआ कि समाज के अच्छे या बुरे व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख के कारण नहीं होते वरन् निमित मात्र होते हैं । अन्यथा दुष्ट लोग सबको दुःख देने में सफल हो जाते और अच्छे व्यक्ति सबको सुखी बना देते जैसा कि वे सोचते हैं ।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि समाज में जो लोग समाज सेवा आदि कार्य करते हैं वह उनका पुण्य कर्म होता है और उस का फल उनको अच्छे जन्मादि के रूप में मिलता है तथा जो दुष्ट लोग दूसरों को कष्ट पहुँचाने का प्रयास करते हैं वह उनका पाप कर्म होता है जिसका फल उन्हें बुरे जन्मादि और दुःख रूप में मिलता है । इससे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक को अपने ही कर्मों का फल मिला है दूसरे के कर्मों का फल नहीं मिलता । जो करता है, वही

भरता है । कहावत भी है जैसी करनी वैसी भरनी ।

प्रश्न 8 समाज में हम प्राय यह देखते हैं कि हमारे मित्र हमारी परेशानियों में सहायता करके हमें सुख देते हैं और हमारे शत्रु परेशानियाँ उत्पन्न करके दुःखों को बढ़ाते हैं ?

उत्तर यह बात संकुचित मस्तिष्क से ऊपरी स्तर तक ही विचार करने से ठीक प्रतीत होती है किन्तु यदि खुले मस्तिष्क से ऊपरी स्तर तक ही विचार किया जाये तो यही तर्क यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि किसी को भी दूसरे के कर्मों का फल नहीं मिलता । जैसा कि यह कहा गया कि मित्र हमारी परेशानियों में सहायक होते हैं और शत्रु परेशानियों को बढ़ाते हैं । मित्र किन परिस्थितियों में सहायता कर सकता है । जैसे बीमारी के इलाज के लिये धन का अभाव है मित्र धन देकर इलाज कराने में सहायता कर सकता है, परन्तु बीमारी का कष्ट तो बीमार को ही सहना पड़ेगा, उसमें मित्र कोई सहायता नहीं कर सकता ।

इसमें यह विचारना चाहिये कि मित्र केवल परेशानियों में आपकी सहायता करने का प्रयत्न कर सकते हैं, आपकी परेशानियाँ उनके प्रयत्न से दूर हो जायेंगी यह अनिवार्य नहीं है, इसी प्रकार शत्रु परेशानियों को बढ़ाने का प्रयत्न कर सकते हैं किन्तु उससे परेशानियाँ बढ़ जायेगी वह अनिवार्य नहीं है। अब यदि परेशानियाँ बढ़ाना या घटाना शत्रु अथवा मित्र के वश में होता तो या तो अनिवार्य रूप से परेशानियों को बढ़ जाना चाहिये या घट जाना चाहिये। परन्तु ऐसा न होना यह सिद्ध करता है कि परेशानियों को या दुःख को बढ़ाना और सुख को देना मित्र या शत्रु के हाथ में नहीं है ।

इसके अतिरिक्त किसी मित्र को सुखप्रदाता और शत्रु को

दुःखप्रदाता मान लेने पर ईश्वर की व्यवस्था पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है क्योंकि ईश्वर की व्यवस्था को मानने पर यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक को अपने ही कर्मों का फल मिलता है किसी अन्य के कर्मों का फल नहीं । क्योंकि यदि इसको भी न्याय व्यवस्था कहा जायेगा कि कर्म तो कोई करे और उसका फल कोई दूसरा भोगे, आपका कोई दोष न हो फिर भी आपको दुःख भोगना पड़े और दोष होने पर भी आपको सुख मिल जाए, तब फिर अव्यवस्था किसको कहा जायेगा ?

प्रश्न 9 किसी के किए कर्मों का किसी दूसरे को फल मिले इसमें कठिनाई क्या है ?

उत्तर सबसे बड़ी कठिनाई है ईश्वर की व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लग जाने की या फिर उसको इतना निर्बल और असहाय मान लेने की कि उसकी व्यवस्था में कोई भी हस्तक्षेप करके उसे छिन्न-भिन्न कर सकता है । क्योंकि यदि ऐसा माना जाए कि कोई भी किसी दूसरे को वह सुख अथवा दुःख दे सकता है जिसका वह अधिकारी नहीं है तो इससे यह सिद्ध होता है कि या तो ईश्वर की व्यवस्था अधूरी है या फिर ईश्वर की व्यवस्था इतनी निर्बल है कि कोई भी उसमें हस्तक्षेप कर सकता है। यदि ऐसा है तब तो ईश्वर की सर्वशक्तिमता और सर्वज्ञता ही समाप्त हो जाती है । इसलिये या तो यह मानिए कि संसार में कोई व्यवस्था नहीं है और संसार का कोई व्यवस्थापक नहीं है, या फिर यह मानिए कि प्रत्येक को केवल अपने ही कर्मों का फल मिलता है किसी दूसरे के कर्मों का नहीं ।

प्रश्न 10 यदि वे दुष्ट लोग हाथ काटने के निमित्त मात्र थे अर्थात् जिस व्यक्ति के हाथ कटे उसका कोई बुरा कर्म फलोन्मुख हो रहा था तो

उन हाथ काटने वालों को कोई दोष नहीं होना चाहिए क्योंकि आपके अनुसार तो ईश्वर की व्यवस्थानुसार ही उन्होंने यह कार्य किया है?

उत्तर इस विषय में दो बातों पर विचार अनिवार्य हो जाता है। एक ईश्वर की व्यवस्था में कर्मानुसार फल का प्राप्त होना तथा कर्मफल के लिए निमित्त का उपस्थित होना। इसमें जीवात्माओं को उनके कर्मों के अनुसार फल मिलना निश्चित होता है किन्तु उन फलों के निमित्त अनिश्चित होते हैं। दूसरे शब्दों के सुख-दुःख के कारण कर्म निश्चित होते हैं परन्तु निमितों का रूपान्तरण हो सकता है। उदाहरण के रूप में लौकिक व्यवहार में यदि किसी राज्य में चोरी की सज़ा एक वर्ष निश्चित की है तो उस सज़ा का कारण चोरी निश्चित होता है अर्थात् वह एक वर्ष की सज़ा चोरी करने पर ही मिलेगी परन्तु उस सज़ा का निमित जो कारागार है, वह मेरठ का भी हो सकता है? बरेली का भी हो सकता है और आगरा का भी हो सकता है।

इसी प्रकार यदि किसी हत्यारे को मृत्युदण्ड दिया गया है तो वह मृत्युदण्ड विष पिलाकर भी दिया जा सकता है, फाँसी पर लटका कर भी दिया जा सकता है और गोली मारकर भी दिया जा सकता है। इससे यह तो स्पष्ट हुआ कि निमित का रूपान्तरण हो सकता है। परन्तु जो दूसरी बात कही है कि दुष्टों ने तो निमित बनकर ईश्वर की व्यवस्था में ही वह कार्य किया है इसलिए वे दोषी नहीं होने चाहियें? इसका उत्तर इस रूप में प्राप्त किया जा सकता है कि एक व्यक्ति जो हत्या का दोषी है और उसे मृत्यु दण्ड दिया गया है अब यदि उस मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्ति को ही कोई दूसरा व्यक्ति यह

सोचकर मार दे कि इसको तो मृत्युदण्ड मिलना ही है फिर मैं ही क्यों न मार दूँ तो उस व्यक्ति पर भी हत्या का मुक़द्दमा चलता है और फिर उसे भी मृत्युदण्ड ही मिलता है ।

अब यदि वह व्यक्ति यह कहे कि मैंने तो सरकार की न्याय व्यवस्था का ही सहयोग किया है क्योंकि सरकार ने उसे मृत्युदण्ड दिया था सो मैंने ही मार दिया तब इसमें मेरा क्या दोष? तब जज यही कहता है कि उस व्यक्ति को मृत्युदण्ड सरकार की व्यवस्था में दिया गया था और मृत्युदण्ड देना भी उसी का काम था जो तुमने अपने हाथ में लेकर किया सो तुम भी हत्या के अपराधी हो गये । इसी प्रकार उक्त घटना में जिस व्यक्ति को हाथ कटने पर कष्ट होने का दुःख हुआ वह तो उसी के किन्हीं बुरे कर्मों का फल था जो किसी भी रूप में उसे मिलना ही था ।

परन्तु वे दुष्ट लोग उसके स्व संकल्प से निमित्त बन गए इसलिए वे भी अवश्य दोषी हुए क्योंकि यह व्यावहारिक रूप में स्पष्ट देखा जाता है कि हाथ कटने की घटनाएँ अनेक प्रकार से होती हैं जैसे—मशीन आदि में आ जाने से, बस से टकरा जाने से, किसी जंगली जानवर के द्वारा या किसी ऐसी ही दुर्घटना में हाथ कट सकता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर की व्यवस्था का अर्थ यही है कि जो जैसा करे उसे ही उसका वैसा ही फल मिले और किसी के किये का किसी दूसरे को फल मिले यह व्यवस्था का नहीं वरन् कुव्यवस्था का अर्थ होता है ।

प्रश्न 11 हम तो समाज में नित्य प्रति यह देखते हैं अच्छे से अच्छे शासन में भी दुष्ट पुरुषों द्वारा अच्छे निरपराध लोगों को कष्ट दिया जाता है । और फिर अपराधी दण्ड पाते हैं तो क्या यह कुव्यवस्था है?

उत्तर यह कुव्यवस्था नहीं है वरन् मानवीय व्यवस्था है क्योंकि मानव एक

देशीय, अल्पज्ञ और निर्बल होता है जिसके कारण उसे शायक बनकर भी यह ज्ञान नहीं हो पाता कि अमुक व्यक्ति किसी को कष्ट पहुँचाने का इरादा कर रहा है इसलिए वह उसे अपराध करने से तथा निरपराध को कष्ट देने से नहीं रोक पाता। यदि वह यह जान पाता तो अवश्य ही निरपराध को कष्ट न होने देता किन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है इसलिए उसकी व्यवस्था में कोई भी किसी को बिना कारण के कष्ट नहीं दे सकता क्योंकि वह तो उसी समय जब कोई किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार करता है तभी जान जाता है और यदि उस व्यक्ति का कोई कर्म ऐसा नहीं है कि उसे कष्ट पहुँचे तो उसे कष्ट होने से बचा देता है।

प्रश्न 12 यह तो एक प्रसिद्ध घटना है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जीवन भर परोपकार किया है फिर भी उन्हें दुष्ट लोगों ने तरह-तरह के कष्ट दिए यहाँ तक कि उन्हें विषपान भी कराया जिसके कारण उन्हें अन्त समय में अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ा। इसमें स्वामी दयानन्द को दूसरों के कर्मों का फल मिला या नहीं?

उत्तर ईश्वर की न्याय व्यवस्था में राजा और रंक, योगी और भोगी सब बराबर होते हैं अर्थात् उसके नियम सबके लिए समान हैं और वह नियम यह है कि जो जीव कर्म करता है उसको उसी के कर्म का फल मिलता है किसी अन्य कर्म का नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि दूसरे व्यक्तियों की तो बात छोड़िए स्वयं व्यक्ति अपने जन्म-जन्मांतरों के कर्मों को ही नहीं जानता। इसलिए वह यह निर्णय करने में समर्थ नहीं होता कि यह सुख अपना दुःख उसे किस कर्म का फल मिल रहा है।

हाँ इतना अवश्य है कि जैसे रोगी यह जान लेता है कि उसने कोई कुपथ्य अवश्य किया है जिसके कारण उसे यह रोग हुआ है उसी प्रकार दुःख हाने पर यह ज्ञान मनुष्यों को हो जाता है कि उसका

कोई बुरा कर्म अवश्य रहा है जिसका यह दुःख रूप में फल मिल रहा है। यही स्वामी दयानन्द की स्वयं की भी मान्यता रही है। इसलिए यह कहना कि स्वामी दयानन्द को दूसरों के कर्म का फल मिला उचित नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो स्वामी जी यह न कहते कि 'ईश्वर तेरी इच्छा' अर्थात् जैसी तेरी कर्म-फल व्यवस्था है, उसके अनुसार तू जो करता है वह अच्छा ही होता है।

प्रश्न 13 क्या जो लोग दूसरों पर उपकार करना चाहते हैं या दूसरों का अनुपकार करना चाहते हैं। वे सब व्यर्थ हैं?

उत्तर नहीं! वे सब व्यर्थ नहीं हैं वरन् उनके मानसिक कर्म हैं क्योंकि कर्म केवल शारीरिक नहीं होते वरन् मानसिक भी होते हैं। इसलिए दूसरों पर उपकार करने का विचार शुभ मानसिक कर्म होता है और दूसरों का अहित करने का विचार अशुभ मानसिक कर्म होता है। इसमें इतना ही सत्य है कि मानव दूसरों का हितचिन्तन कर सकता है और अहित चिन्तन भी कर सकता है। इसमें वह स्वतंत्र है और अपने उस चिन्तन को दोनों ही पूर्ण करने का भरसक प्रयत्न भी कर सकते हैं परन्तु इसका यह अर्थ लगाना अनुचित है कि हित चिन्तन करके उसे पूर्ण करने का प्रयास करने वाला हित करेगा ही और अहित चिन्तन करके व्यक्ति दूसरे का अहित करेगा ही। क्योंकि ईश्वर की न्याय व्यवस्था में न तो मित्र अनाधिकृत हित कर सकता है और न शत्रु अनाधिकृत अहित कर सकता है।

जैसे हम नित्य प्रति देखते हैं कि माता-पिता सदैव अपनी सन्तान का हित चिन्तन करते हैं और कोई माता यह नहीं चाहती कि उसका पुत्र दुःखी हो और वे इसके लिए भरसक प्रयत्न भी करते हैं परन्तु फिर भी कोई माता अपने पुत्रों को दुःखों से नहीं बचा पाती। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है शत्रु सदा हमारे अहित करने

का प्रयत्न करते रहते हैं परन्तु फिर भी अहित करने में सफल नहीं हो पाते इससे यही सिद्ध होता है कि दूसरे हित चिन्तन या अहित चिन्तन तो कर सकते हैं और उसे पूर्ण करने का प्रयत्न भी कर सकते हैं परन्तु वे अपने इरादे में उस समय तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि व्यक्ति के कर्म वैसे न हों ।

प्रश्न 14 आपने दूसरों को कर्म-फल का निमित्त कहा है तो क्या ये निमित्त निश्चित होते हैं अर्थात् जिसके द्वारा जैसा कष्ट होना है वैसा उसी के द्वारा होता है ?

उत्तर कारण और निमित्त में भेद है यह पूर्व ही बताया है । इसमें केवल कारण (कर्म) निश्चित होते हैं अर्थात् जब जीव कर्म कर चुकता है तब उसका फल निश्चित हो जाता है किन्तु निमित्त निश्चित नहीं होता क्योंकि उसका रूपान्तरण होता रहता है । वर्तमान समय में वायुयान, रेलगाड़ियाँ, मोटर कारें, आधुनिक यंत्र आदि हैं तथा कल-कारखाने हैं जबकि पूर्वकाल में ये सब नहीं थे । तब आज इन साधनों के द्वारा व्यक्तियों को सुख व दुःख दोनों मिलते हैं जबकि उस समय जब ये नहीं थे तब अन्य साधनों से व्यक्तियों को सुख व दुःख मिलते थे । इससे यह स्पष्ट है कि सुख व दुःख के कारण शुभ-अशुभ कर्म सदैव अपरिवर्तनशील रहते हैं । इसलिए निमित्त निश्चित नहीं होते क्योंकि यदि निमित्त को निश्चित माना जायेगा तो फिर सम्पूर्ण व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी । इस मान्यता से न कोई अपराधी होगा और न कोई अच्छा व्यक्ति होगा । इसलिए निमित्त निश्चित नहीं होता ।

प्रश्न 15 तो क्या इसका यह अर्थ है कि मानव समाज में सभी मनुष्य धनवान् और निर्धन अपने वर्तमान जीवन के कर्मों से ही बनते हैं ?

उत्तर वर्तमान चालू जीवन में पूर्वजन्म के तथा वर्तमान जीवन के कर्मों के

योग से बनते हैं । जैसे एक जीव जो धनवान् के यहाँ जन्म लेता है वह उसके पूर्वजन्म द्वारा धनी बनता है तब वह उसके वर्तमान जन्म के कर्मों का पूर्वजन्म के कर्मों के साथ योग का फल होता है ।

निष्कर्षतः इतना कहना काफी है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है और इससे कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता है । एक हिन्दी कवि ने कितना सुन्दर लिखा है–

कोई दुनियाँ में आता है कोई दुनियाँ से जाता है ।
यह चक्र रुक नहीं सकता प्रभु इसको चलाता है । ।
भलाई कर भला होगा, बुराई कर बुरा होगा ।
जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है । ।

इसलिये व्यक्ति को कर्म अच्छे करने चाहिये, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने सुकर्मों से अपना जीवन बना सकता है और कुकर्मों से बिगाड़ भी सकता है । व्यक्ति न तो धन से, नाही पद से महान् बनता है, परन्तु वह कर्मों से ही महान् बनता है । ''चाणक्य नीति'' में लिखा है–

गुणैरुतमतां याति, नोच्चैरासन संस्थितः ।
प्रासादशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते । ।

मानव गुणों से उत्तम बनता है न कि ऊँचे आसन पर बैठने से जैसे ऊँचे महल के शिखर पर बैठकर भी कौआ कौआ ही रहता है और गरुड कभी नहीं बन सकता है ।

इसी प्रकार आज भी श्रीराम, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध, महावीर, आदिशंकराचार्य, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानंद आदि महापुरुष अपने महान् कार्यों के कारण ही अमर हैं । मानव कर्मयोनि एवं भोगयोनि भी है और पशु केवल भोगयोनि है । अतः कोई भी मानव शुभ कर्मों के द्वारा महान् बन सकता है और कुकर्मों द्वारा राक्षस बन सकता है । उर्दू भाषा के सुप्रसिद्ध शायर इक़बाल लिखते हैं–

अमल से ज़िदगी बनती है जन्नत (स्वर्ग) भी और जहन्नुम (नरक) भी ।
ये खाकी अपनी फितरत (स्वभाव) से न नूरी (फरिश्ता) है न नारी है । ।

शायर के कहने का भाव यह है कि आदमी जो कुछ भी बनता है वह अपने कर्मों से ही बनता है । यह आदमी केवल मिट्‌टी का पुतला ही है, और यह फरिश्ता व शैतान अपने अच्छे और बुरे कामों से ही बनता है । इसलिये आदमी को अच्छे काम करने चाहिये न कि बुरे । इस विषय में आप की सेवा में एक दृष्टांत प्रस्तुत करता हूँ । एक दिन राजकुमार अभय कुमार को जंगल में नवजात शिशु मिला । वह राजकमार उसे अपने घर ले आया और उसका नाम जीवन रख दिया । अभय कुमार ने बच्चे को खूब पढ़ाया-लिखाया । जब जीवन बड़ा हुआ तो उसने अभय कुमार से पूछा, ''मेरे माता-पिता कौन हैं'' ?

अभय कुमार ने जीवक से कुछ भी छिपाना ठीक न समझते हुए उसे सारी बात बता दी लेकिन यह सुनकर जीवक बोला, ''मैं आत्महीनता का भाव लेकर कहाँ जाऊँ ।''

इस पर अभय कुमार ने कहा, ''तुम विद्या अध्ययन करने तक्षशिला जाओ ।'' जीवक विद्या अध्ययन के लिये चल पड़ा । विद्यालय में प्रवेश करते समय वहाँ के आचार्य ने जीवक से पूछा, ''बेटा ! तुम्हारे माता-पिता का क्या नाम है, तुम्हारा कुल क्या है, तुम्हारा गोत्र क्या है ?''

इन सभी प्रश्नों के उत्तर जीवक ने बिना कुछ छिपाये सही-सही दिए । उसकी सच्चाई से प्रसन्न होकर आचार्य ने जीवक को विद्यालय में प्रवेश दे दिया । जीवक ने वहाँ कठोर परिश्रम करते हुए आयुर्वेदाचार्य की उपाधि ली ।

उसके आचार्य चाहते थे कि जीवक मगध जाकर वहाँ लोगों का उपचार करे । जब यह बात जीवन को पता चली तो उसने आचार्य से कहा, ''मैं जहाँ भी जाऊँगा, लोग मेरे माता-पिता और कुल-गोत्र के बारे में पूछेंगे । मैं यहीं रहना चाहता हूँ ।''

लेकिन आचार्य बोले, ''तुम्हारी प्रतिभा और ज्ञान ही तुम्हारा कुल और गोत्र है । तुम जहाँ भी जाओगे वहीं तुम्हें सम्मान मिलेगा । तुम लोगों की सेवा करोगे, इसी से तुम्हारी पहचान बनेगी क्योंकि कर्म से ही मनुष्य की पहचान होती है, कुल और गोत्र से नहीं ।

इस तरह जीवक का आत्मविश्वास फिर से जाग गया और वह मेहनत व निष्ठा से लोगों की सेवा करते हुए आयुर्वेदाचार्य के रूप में पूरे मगध राज्य में प्रसिद्ध हो गया। अतः व्यक्ति जाति से नहीं कर्म से पहचाना जाता है। इसलिये नत्था सिंह 'निर्दोष' ने लिखा है–

न भस्मी रमाने से, न रेशमी दुशालों से।
बंदा पहचाना जाता है सिर्फ अपने आमालों (कार्यों) से।।

अतः हिन्दी कवि राकेश जैन के शब्दों को लिखना अत्यंत उचित समझता हूँ–

आँखों की शोभा सुरमे से नहीं शर्म से होती है।
शरीर की शोभा शृंगार से नहीं कर्म से होती है।।
आप मानो या मत मानो, पर सच जानो।
जीवन की शोभा धन से नहीं, धर्म से होती है।।

लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेॅर-ओ-शायरी
17. ओ३म्
18. गायत्रीरहस्य (आपके हाथ में है)

लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक मनुस्मृति
2. वैदिक उपनिषद्वाणी
3. वैदिक दर्शनवाणी
4. वैदिक महाभारत
5. वैदिक गीता
6. अमर धर्मग्रंथ
7. अमर नीतिग्रंथ
8. पुराणपरिचय
9. ईश्वरसिद्धि
10. राष्ट्रभाषा हिन्दी
11. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
12. महावीर हनुमान
13. योगिराज श्रीकृष्ण
14. आदिशंकराचार्य
15. आचार्य चाणक्य
16. दस गुरु
17. आर्यसमाज के महामानव
18. स्वामी रामतीर्थ
19. संस्कार
20. गीतांजलि
21. आर्यसमाज
22. ज्ञानामृत
23. यज्ञ
24. संत
25. संतवाणी
26. आत्मकथा
27. भतृहरिशतक
28. ब्रह्मचर्य
29. गृहस्थ
30. सामान्य हिन्दी (भाग I-II) (सब कक्षाओं के लिये)
31. धर्म
32. कर्म
33. मन
34. सुखी कौन?
35. भारत के क्रांतिकारी
36. भारत के भक्त
37. **Great Thoughts**
38. **Great Indians**
39. **Great Thinkers**
40. **Great Scientists**
41. **General English (Part I to V) (For All Classes)**

कृपया पाठकगण इस ओर भी ध्यान दें कि इनकी निम्नलिखित पुस्तकों को इनकी वैब साईट **www.dpkapoorbooks.co.in** पर भी देखा जा सकता है।

1. अमृतवाणी
2. आर्यसमाज
3. आर्यसमाज के महामानव
4. आदिशंकराचार्य
5. आचार्य चाणक्य
6. अमर नीतिग्रंथ
7. अमर धर्मग्रंथ
8. दस गुरु
9. ईश्वरसिद्धि
10. गायत्रीरहस्य
11. ज्ञानामृत
12. गीतांजलि
13. क्या आप जानते हैं ?
14. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
15. महावीर हनुमान
16. महर्षि दयानंद
17. ओ३म्
18. पुराणपरिचय
19. राष्ट्रभाषा हिन्दी
20. संस्कार
21. संत
22. संतवाणी
23. स्वामी विवेकानंद
24. स्वामी रामतीर्थ
25. शरणागति
26. शेंर-ओ-शायरी
27. सामान्य हिन्दी (भाग **I-II**) (सब कक्षाओं के लिये)
28. वैदिकसाहित्य
29. वैदिक उपनिषद्वाणी
30. वैदिक दर्शनवाणी
31. वैदिक रामायण
32. वैदिक महाभारत
33. वैदिक गीता
34. योगिराज श्रीकृष्ण
35. यज्ञ
36. आत्मकथा
37. भर्तृहरिशतक
38. ब्रह्मचर्य
39. गृहस्थ
40. वैदिक मनुस्मृति
41. धर्म
42. कर्म
43. मन
44. सुखी कौन?
45. भारत के क्रांतिकारी
46. भारत के भक्त
47. **Great Thoughts**
48. **Great Indians**
49. **Great Thinkers**
50. **Great Scientists**
51. **General English (Part I to V) (For All Classes)**